दाचार - सोपान

दाचार सम्बन्धी प्रेरणादायक पुस्तक)

लेखक
मोहनवल्लभ पन्त
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
डूँगर कॉलिज, बीकानेर

१९६०
एस० चन्द एण्ड कम्पनी
दिल्ली—जालन्धर—लखनऊ

चिरंजीवी नरेंद्र को—
उसके २५वें वर्ष की समाप्ति
के शुभावसर पर

—मोहनवल्लभ पन्त

हमारे राष्ट्रीय गीत—

वन्देमातरम्

वन्देमातरम्
सुजलाम् सुफलाम् मलयज शीतलाम्
शस्य श्यामलाम् मातरम् ।
वन्देमातरम्

शुभ्र-ज्योत्स्ना पुलकितयामिनीम्
फुल्ल कुसुमित-द्रुमदल-शोभिनीम्,
सुहासिनीम् सुमधुरभाषिणीम्
सुखदाम् वरदाम् मातरम् ।
वन्देमातरम्

—बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय

दो शब्द

भारत में स्वाधीनता के पश्चात् शिक्षा की ओर विशेषतः ध्यान दिया जाने लगा है। अब इस बात की कोशिश हो रही है कि छात्र-छात्राएँ शिक्षा प्राप्त करने के साथ-साथ एक आदर्श नागरिक भी बनें। इसी विचार से पाठ्यक्रमों में कुछ ऐसे विषयों का समावेश किया जा रहा है जो उन्हें अच्छा नागरिक बनने में सहायक हों। एक आदर्श नागरिक बनने के लिए यह परम आवश्यक है कि व्यक्ति चरित्रवान् और सदाचारी हो। हम सत्य, संयम और शिष्टाचार को अपनाकर ही सदाचारी बन सकते हैं।

आज से २८ वर्ष पूर्व मैं जब काशी के सैन्ट्रल हिन्दू स्कूल में अध्यापक था तभी से मेरी इच्छा थी कि एक छात्रोपयोगी सदाचार विषयक पुस्तक लिखूँ; पर उस इच्छा को कार्यान्वित न कर सका। शायद यह पुस्तक भी न लिखी जाती यदि एस० चन्द एण्ड कम्पनी के श्री राजकुमार सेठ ने मुझे सदाचार सम्बन्धी पुस्तक लिखने के लिए प्रोत्साहित न किया होता। मैं उनके आग्रह को टाल न सका। अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी पुस्तक की सामग्री लिखनी पड़ी। इस बात का मैंने पूरा प्रयत्न किया है कि जो भी दृष्टान्त दिये जायें, अधिकतर भारतीय ही हों। पुस्तक की पाठ्य-सामग्री भी प्रेरणादायक हो।

विपय-सूची

पहला अध्याय

सदाचार

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में व्यवस्था बनाए रखने के लिए, समाज को उच्छृंखल या मर्यादाहीन होने से बचाए रखने के लिए, विद्वानों ने अपने अनुभव और ज्ञान के आधार पर कुछ नियम निर्धारित किये हैं। हम अपने चारों ओर रहने वाले मनुष्यों और इतर प्राणियों के साथ किस प्रकार व्यवहार करें कि वह 'उचित' हो—'ठीक' हो और उसे 'सदाचार' की संज्ञा दी जा सके। जिस शास्त्र में आचरण सम्बन्धी इन नियमों का विवेचन किया जाता है उसे हम 'आचार-शास्त्र' कहते हैं। 'आचार-शास्त्र' को 'नीति-शास्त्र' और 'व्यवहार-शास्त्र' भी कहा जाता है।

'सदाचार' में यह 'सत्' या 'ठीक' क्या है उसे समझने के लिए मनुष्य और उसके समाज के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त करना अत्यावश्यक है। सदाचार का उद्देश्य है प्राणि-मात्र का हित-साधन। आचार-शास्त्र हमें यह बतलाता है कि अपने समाज में, अपने पास-पड़ोसियों के साथ, किस प्रकार व्यवहार किया जाय कि सब लोग मेल से रह सकें, सब सुखी रहें। हमारे जिस [illegible] से समाज को सुख हो उसी को हम 'सत्' या [illegible]। इसके ठीक विपरीत [illegible] उसे ही हम [illegible] है कि न तो सत्कार्यों [illegible] से सदा दुःख हो।

तथापि सदाचरण क्षणिक कष्टकर भले ही हों उनका परिणाम तो निस्संदेह सुख ही होता है। इसी प्रकार असदाचरण या पाप-कार्य क्षणिक सुखकर भले ही हों अन्त में इनसे दुःख और अशान्ति ही होती है। क्षणिक आनन्द के लिए अनुचित कार्य करने वाला व्यक्ति उस अज्ञान बालक के समान है जो देखने में सुन्दर और स्वाद में मधुर विष-फल को खाकर अन्त में मृत्यु का आलिंगन करता है। 'आचार-शास्त्र' हमें 'सत्कार्य' और 'असत्कार्य' का बोध कराकर पाप रूपी विष-फल से हमें सावधान करता है।

मूलतः प्रत्येक मनुष्य और प्राणी उसी 'एक' के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं, प्राणिमात्र में एक ही चेतन 'आत्मा' का अंश है। अतः जिस कार्य से समाज के किसी एक व्यक्ति को हानि पहुँच सकती है वह वस्तुतः समस्त समाज के लिए हानिकारक हो सकता है; और जिस कार्य से सब को लाभ पहुँचता है वह प्रत्येक के लिए हितकर हो सकता है। दूसरे को चोट पहुँचाकर हम वस्तुतः अपने को ही चोट पहुँचाते हैं। अपने शरीर का ही उदाहरण ले लीजिए। हमारा शरीर एक है और हाथ, पैर, नाक, कान आदि भिन्न-भिन्न अवयव उसी शरीर के अंश हैं। अब यदि हाथ अपने शरीर के ही अन्य अंग पैर को काट डाले तो रक्त-प्रवाह पैर से ही होगा हाथ से नहीं। किन्तु अन्ततोगत्वा हाथ भी दुर्बल पड़ जायगा, क्योंकि पैर को काटकर जिस शरीर को हानि पहुँचाई गयी है उसी का अवयव हाथ भी है और एक ही स्रोत से शरीर के सभी अवयवों में रक्त-संचार होता है। यही बात मानव के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। मनुष्य एक ही मानव-समाज का अंग है। जब मनुष्य अपने

समाज के एक अंग अन्य मनुष्य को घायल करता है तो घायल को तो कष्ट होता ही है, पर आघात करने वाले को भी आगे चलकर कम कष्ट नहीं होता। वस्तुतः मानव मात्र ही नहीं किन्तु प्राणि मात्र की एकता का ज्ञान ही सदाचार की नींव है। कोमल-मति बालक पहले अपने माता-पिता और गुरुजनों से सदाचार की शिक्षा पाता है, फिर साधु-सन्तों एवं पुस्तकों से। अन्त में वह स्वयं अपने ही ज्ञान और अनुभव के आधार पर यह निर्णय करने में समर्थ हो जाता है कि कौनसा कार्य उसके लिये करणीय है—अच्छा है, और कौन अकरणीय—बुरा। हमारी जिन इच्छाओं अथवा हमारे जिन विचारों और कार्यों से दूसरों को सुख पहुँचता है, जिनसे समाज में एकता स्थापित होती है, उन्हीं को हम सत्कार्य पुण्य या सदाचरण कहते हैं। और जिन इच्छाओं, विचारों अथवा कार्यों से दूसरो को कष्ट पहुँचता है, समाज में फूट पड़ती है, परस्पर कलह होता है, उन्हें हम पाप कहते हैं।

दूसरों के साथ किस प्रकार आचरण करना चाहिए—इस बात की समझ प्रत्येक में नहीं होती। न उसके पास यह सब जानने का साधन और अवकाश होता है कि 'सत् क्या है' और 'असत् क्या'? किन्तु अनुभवी विद्वानों ने इस सम्बन्ध में कुछ नियम निश्चित कर दिये हैं। उन नियमों के अनुकूल आचरण करने से मानव स्वयं भी सुखी रह सकता है और समाज को भी सुखी बना सकता है। कुछ नियम इस प्रकार हैं:

"व्यास-रचित अठारह पुराणों में तत्त्व की केवल दो बातें हैं—दूसरों को सुखी करना, उनके साथ भलाई करना ही

'सत्कार्य' या 'पुण्य' है और दूसरों को पीड़ा पहुँचाना ह 'पाप' है।"[१]

"जो व्यवहार अपने को अच्छा नहीं लगता वह दूसरे को भी अच्छा नहीं लग सकता। अतः जो व्यवहार तुम्हें स्वय अच्छा नहीं लगता वैसा तुम दूसरों के साथ भी मत करो। धर्म का तत्त्व केवल इतना ही है, इसे कान खोलकर सुनो और समझो।"[२]

"दूसरों के जिस कार्य से अपने को कष्ट पहुँच सकता है, जो व्यवहार हम दूसरों से अपने प्रति नहीं चाहते—वह कार्य या व्यवहार हमें दूसरों के प्रति भी नहीं करना चाहिए। जैसा व्यवहार तुम अपने लिये चाहते हो वैसा ही तुम दूसरों के लिए भी करो।"[३]

"जिस कार्य से दूसरों का भला न हो और जिस कार्य को करने में अपने को लज्जा का बोध हो—उसे कदापि न करना चाहिए।"[४]

"हे जाजले, जो सब प्राणियों का मित्र है और जो मनसा-

---

१. अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

२. श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वाचाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

३. यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पुरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः।
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिंतयेत्॥

४. यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम्।
अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात्कथंचन॥

वाचा-कर्मणा सब का हित करता है—वही वस्तुतः 'धर्म' को समझता है।"[1]

इन सब बातों को समझकर छात्रों में स्वयं 'सत्' और 'असत्' का विवेक हो जायगा और वे अपने आचरण को 'सत्' की ओर ले जाकर अपने को सदाचारी और शीलवान बनाने का प्रयत्न करेंगे।

---

१. अतो यदात्मनोऽपथ्यं परेषां न तदाचरेत् ।

[प्रा]प्त होते हैं। इस प्रकार हमें समाज से जो प्राप्त हुआ है उस[के] लिए हम समाज के ऋणी हैं और इन ऋणों को चुकाना [ह]मारा परम कर्त्तव्य है। यह कर्तव्य-पालन ही 'पुण्य' या [स]त्कार्य' है और कर्त्तव्य की अवहेलना करना 'पाप' है। गुणवान् [पु]रुष अपने कर्त्तव्यों को समझता है और उनका पालन करता [है]। किन्तु पापी न अपने कर्त्तव्यों को समझता ही है न उनका [पा]लन ही करता है।

इन पुण्य-कर्मों या गुणों का आधार 'सत्य' है। वस्तुतः [पु]ण्य या गुण 'सत्य' के ही भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। जो वास्तविक है वही सत्य है, वही परब्रह्म है।[1] इसके अनुसार ईश्वर ही सत्य स्वरूप है और बाह्य प्रकृति में उसी ईश्वर का प्रतिबिम्ब है। प्रकृति के सभी नियम इसी 'सत्य' के व्यक्त स्वरूप हैं। इसीलिए प्रकृति के सभी कार्य नियमित और व्यवस्थित रूप से चलते रहते हैं। जीव अनेक प्रकार के होते हैं, किन्तु उनमें एक ही परमात्मा का अंश वर्तमान है। आत्मा की यह एकता ही सबसे बड़ा सत्य है और ये सब नियम और सत्य अचल इसलिए हैं कि इनमें सत्य-स्वरूप ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब है।

आचार-शास्त्र में सत्य का अर्थ यह है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति जैसा अपने सम्बन्ध में अनुभव करता है वैसा ही दूसरों के सम्बन्ध में भी करे—जैसा वह दूसरों को समझता है वैसा ही, या ठीक उसी तरह, अपने को भी समझे। दूसरे से झूठ बोलने का अर्थ है उसके प्रति अविश्वास करना, उसे अपने

---

१. ऋतं सत्यं परं ब्रह्म।

से भिन्न और विरुद्ध समझना। जब हम तत्त्वतः एक ही 'सत्य' के अंश हैं तब दूसरों को किसी जानकारी से वंचित करना, उनसे कोई बात छिपाना कहाँ तक अभीष्ट है। इस प्रकार जान या अनजान में अपनी झूठ से परस्पर भेद-भाव की सृष्टि कर हम समाज की एक बहुत बड़ी हानि करते हैं और यह विभेद अनेक बुराइयों की जड़ है। सत्यता से एकता का विकास होता है और असत्य से भेद-भाव की वृद्धि होती है। इसी से गुणों को सत्य का ही स्वरूप माना गया है।

भारतीय साहित्य में सत्यता को एक बड़ा भारी गुण माना गया है। भारत का प्रत्येक महापुरुष इस बात पर अभिमान करता है कि मेरे मुख से असत्य कभी निकल नहीं सकता। राम के बारे में तो कहा गया है—"रामो द्विर्नाभिभाषते," अर्थात् श्रीराम कोई बात दुहराते नहीं। उनके मुख से एक बार जो निकल गया उसे पूर्ण होना ही चाहिए। श्रीकृष्ण ने प्रतिज्ञा की थी कि वे कुरुक्षेत्र के युद्ध में निरस्त्र रहेंगे। परन्तु जब एक बार अर्जुन की सहायता करने के लिए वे अस्त्र लेकर भीष्म की ओर दौड़े तो अर्जुन ने उनको प्रतिज्ञा का स्मरण कराकर उनको अस्त्र लेकर युद्ध करने से रोक दिया। इसी प्रतिज्ञा के कारण कई बार विजय से निराश होने पर भी युधिष्ठिर ने उनकी सहायता नहीं ली। किन्तु सत्यवादी युधिष्ठिर की असत्यवादिता की भी एक कहानी है। एक बार द्रोणाचार्य ने पाण्डवों की सेना का भीषण संहार कर युधिष्ठिर को हताश कर दिया। तब अपनी पराजय से व्यथित और आत्मीयों के संहार से खिन्न होकर वे सत्यवादिता को भूल गये और 'अश्वत्थामा मारा गया है' यह स्पष्ट झूठ बोलकर धीमे स्वर में

: अथवा हाथी' (अश्वत्थामा हतः नरो वा कुञ्जरो वा)
कर उन्होंने अपने झूठ को छिपाने का प्रयास किया। कहा
ा है कि उनका रथ उनके सत्य के प्रताप से पृथ्वी से ऊपर
ऊपर उठकर चलता था। इस असत्य से उनका सत्य का
ाव क्षीण हो गया और उनका रथ पृथ्वी में ही चलने
ा। इसी असत्य के फलस्वरूप उन्हें नरक के भी दर्शन
ने पड़े। जब पाण्डव वनवास में थे तब कृष्ण ने युधिष्ठिर
सुझाया कि १३ वर्ष की वनवास की अवधि को पूरा किये
ना ही कौरवों से युद्ध छेड़ दें। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया :

"पाण्डव कभी सत्य के मार्ग से विचलित नहीं हो सकते।"

अपनी हानि होने पर भी प्रतिज्ञा का पालन अवश्य होना
चाहिए। भगवद्‌भक्त प्रह्लाद ने इन्द्र को जीतकर त्रिलोकी
ा राज्य प्राप्त कर लिया। इन्द्र ब्राह्मण-वेश उसके पास
ो और शिष्य की भाँति उसकी सेवा करने लगे। अन्त में
ह्लाद उन पर इतने प्रसन्न हो गये कि उनको मनवाञ्छित वर
ांगने की आज्ञा दी। इन्द्र ने प्रह्लाद का 'शील'—सदाचार—ही
माँग लिया। 'शील' से च्युत होने का अर्थ था सभी गुणों से
वंचित होना, और विनाश की ओर अग्रसर होना। तथापि
वचनबद्ध होने के कारण प्रह्लाद ने अपना 'शील' भी दे दिया।

चित्रांगद और विचित्रवीर्य के मर जाने पर माता
सत्यवती ने भीष्म से आग्रह किया :

"अपनी प्रतिज्ञा को छोड़कर विवाह कर लो और राज्य-
भार सम्हालो।"

इस पर भीष्म ने जो दृढ़ उत्तर दिया वह भूलने योग्य
नहीं है। उन्होंने कहा :

"मैं तीनों लोकों का राज्य, स्वर्ग का साम्राज्य अथवा इन[illegible] भी बढ़कर पदार्थों का त्याग कर सकता हूँ। किन्तु सत्य को कदापि नहीं छोड़ सकता। पृथ्वी अपने गुण 'गन्ध' को, ज[illegible] अपने गुण 'आर्द्रता' को, तेज अपने गुण 'प्रकाश' को, वायु अपने 'स्पर्श' गुण को, आकाश अपने 'शब्द' गुण को भले ही छोड़ दे; सूर्य तेज को, चन्द्र शीतलता को, अग्नि उष्णता को भले ही त्याग देवें; इन्द्र अपनी शक्ति को, धर्मराज अपनी निष्पक्षता को भले ही भुला दें—पर मैं सत्य को नहीं छोड़ सकता।"

महातेजस्वी, अभिमानी और स्पष्टवक्ता कर्ण के बारे में प्रसिद्ध है कि वे अभेद्य (शस्त्रों से न कट सकने वाले) कवच और कुण्डलों के सहित उत्पन्न हुए थे। इसीलिए कोई भी शस्त्र उनके शरीर को नहीं वेध सकता था। देवताओं को आशंका हुई कि यदि कभी अर्जुन और कर्ण का युद्ध हुआ तो इस अभेद्य कवच के कारण कहीं अर्जुन पराजित न हो जाय। कर्ण नियमानुसार प्रतिदिन पूर्वाभिमुख होकर वेदाध्ययन करते थे। उसकी प्रतिज्ञा थी कि वेदाध्ययन के अवसर पर कोई भी ब्राह्मण उससे मनचाही वस्तु माँग सकता है। वह उसे अवश्य ही उस की अभीष्ट वस्तु देगा। एक दिन देवराज इन्द्र वृद्ध ब्राह्मण के वेश में कर्ण के पास आये और वरदान माँगने की अभिलाषा प्रकट की। कर्ण ने कहा :

"यदि मेरे सामर्थ्य के भीतर हुआ तो मैं आपको आपकी मनचाही वस्तु दूँगा।"

इन्द्र ने कहा :

"अपना यह अभेद्य कवच और कुण्डल मुझे दे दो।"

कर्ण ने कहा :

"मैं समझ गया। आप सरल निस्पृह ब्राह्मण नहीं, प्रसाक्षात् देवराज इन्द्र हैं। और पाण्डवों के निमित्त वेश बदलकर मुझ से अभेद्य कवच माँगने आये हैं। फिर भी मैं अपने वचनों से विमुख नहीं हो सकता। मेरी एक मात्र कामना यह थी कि मैं अपने शत्रु अर्जुन को समर-भूमि में परास्त करूँ। आप की इच्छा की पूर्ति करने से मेरी इस इच्छा की पूर्ति ही कठिन है। यही नहीं, मैं अपने प्राणों तक को अरक्षित बना रहा हूँ। तथापि आपकी कामना पूर्ण हो।"

यह कहकर कर्ण ने अपने ही हाथ से उस अभेद्य कवच को काटकर इन्द्र को दे दिया। इससे भले ही वे अर्जुन को न जीत पाये हों, किन्तु अपने इस कार्य से वे चिरस्थायी यश के भागी हो गये।

सूर्यवंशी राजा दशरथ प्रायः देवराज इन्द्र के निमन्त्रण पर उनकी सहायता के लिए जाया करते थे और असुरों से युद्ध कर उन्हें परास्त कर देते थे। एक ऐसे ही अवसर पर रानी कैकेयी भी उनके साथ थीं। राजा दशरथ युद्ध करते थे और वे कुशलता से रथ-संचालन करती थीं। एक बार राजा दशरथ घायल होकर मूर्छित हो गये तो रानी अत्यन्त निपुणता से उन्हें युद्ध-क्षेत्र से दूर किसी सुरक्षित स्थान पर ले आयीं और उनके प्राणों की रक्षा की। इस पर कृतज्ञता प्रकट करने के लिए राजा दशरथ ने उन्हें दो वरदान दिये। रानी ने उन्हें भविष्य के लिए रख छोड़ा। बहुत दिनों के पश्चात् जब राजा वृद्ध हो गये और उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को युव-राज पद पर अभिषिक्त करने का विचार किया तब रानी ने राजा से दोनों वरदान माँग लिये—एक से राम को १४ वर्ष

का वनवास, दूसरे से भरत का राज्याभिषेक। दशरथ जानते थे कि राम के वियोग में उनके प्राण नहीं बच सकेंगे। उन्होंने सत्य के लिए अपने पुत्र को वनवास दे दिया और पुत्र-वात्सल्य के लिए प्राण दे दिये। इस प्रकार 'प्राण जायँ पर बचन न जाई' रघुवंशियों के इस सिद्धान्त का अक्षरशः निर्वाह किया।

दैत्यराज बलि अपने पराक्रम से त्रिलोकी के सम्राट् हो गये। उन्होंने अनेक यज्ञ किये। भगवान् विष्णु वामन रूप में उनके यज्ञ में जा पहुँचे और तीन पग भूमि माँगी। बलि के गुरु और पुरोहित शुक्राचार्य यह समझ गये कि वामन वेश में साक्षात् विष्णु ही वहाँ उपस्थित हैं। इसलिये उन्होंने बलि से कहा कि वामन को वरदान न दें। बलि ने उत्तर दिया :

"प्रह्लाद का पौत्र झूठ नहीं बोलेगा। चाहे वामन मेरे शत्रु दैत्यारि विष्णु ही क्यों नहीं हों, मैं अपनी प्रतिज्ञानुसार उन्हें वरदान अवश्य दूँगा।"

और जब वामन ने अपने दो डगों से त्रिलोकी को नापकर तीसरे पैर के लिए स्थान माँगा तो बलि ने अपना सिर उनके पैर रखने के लिए झुका दिया। उनका ऐश्वर्य नष्ट हो गया, त्रिलोकी का राज्य अपहृत हो गया। शत्रुओं ने उन्हें बन्धन में डाल दिया, मित्र उनका साथ छोड़कर चले गये, गुरु ने रुष्ट हो कर उन्हें शाप दे दिया—पर बलि ने सत्य न छोड़ा। पुराणों में कहा गया है कि सत्य की इस प्रकार प्रतिष्ठा करने के कारण ही भगवान् विष्णु ने उन्हें वरदान दिया है कि वर्तमान पुरंदर इन्द्र के पश्चात् बलि ही इन्द्र-पद के अधिकारी होंगे।

"सत्य ही ब्रह्म है।" अतः ब्रह्म की प्राप्ति के लिए सच बोलना परमावश्यक है। इसलिए प्रत्येक विद्यार्थी को निरंतर सत्य बोलना चाहिए।

आत्म-संयम

आचार-शास्त्र का उद्देश्य है समाज में परस्पर प्रेमपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखकर एकता की स्थापना करना। परन्तु समाज से भी पहले मानव का सम्बन्ध अपने से होता है। जब तक वह यह नहीं जानता कि उसे स्वयं अपने साथ किस प्रकार आचरण करना चाहिए तब तक वह अपने से भिन्न समाज के व्यक्तियों के साथ उपयुक्त व्यवहार नहीं कर सकता। मनुष्य का अपना निजी परिवार है। उसका मन, उसकी ५ ज्ञानेन्द्रियाँ और ५ कर्मेन्द्रियाँ ही उसका अपना परिवार है। युवावस्था में परिवार के इन सदस्यों पर नियंत्रण करना कठिन हो जाता है और तब ये उसे अनेक विपत्तियों में ढकेल देते हैं। ज्यों-ज्यों वह युवावस्था को पार करता जाता है त्यों-त्यों वह समझने लगता है, "ये इन्द्रियाँ और यह मन निश्चय ही चंचल हैं और इनको वश में करना कठिन काम है। परन्तु फिर भी निरन्तर अभ्यास से और वैराग्य के द्वारा इन पर संयम रखा जा सकता है।"[1] वह धीरे-धीरे अभ्यास कर अपने मन को वश में करता है और वशीकृत मन के द्वारा इन इन्द्रियों पर नियन्त्रण करता है। इस प्रकार अपने पर नियन्त्रण करने के पहले–आत्म-संयम करने की क्षमता प्राप्त करने के पूर्व–उसे अपनी वासनाओं से संघर्ष करना पड़ता है। जिस मनुष्य में 'आत्म-संयम' का महान् गुण

१. असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते ॥—गीता

आ जाता है। वह अपनी वासनाओं पर ही नहीं अपने
क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि शत्रुओं पर भी विजय प्र
समाज में सब के साथ प्रेम-पूर्ण एवं उदार सम्बन्ध
रखने में समर्थ होता है।

स्मृतिकार मनु ने आत्म-संयम की आवश्यकता प
जोर दिया है और इसकी साधना के सम्बन्ध में कुछ
परामर्श दिये हैं। उनके अनुसार किसी भी कार्य के तीन
होते हैं—मन, वचन और काया। वास्तविक संयम त
हो सकता है जब मानसिक, वाचिक और कायिक (शारी
तीनों प्रकार के कर्मों पर हमारा वश हो—नियंत्रण हो
नहीं इस आत्म-संयम अथवा इन्द्रीय-निग्रह को उन्होंने
१० लक्षणों में प्रमुख स्थान दिया है।[1] और चारों व
लिए धर्म का सार बताते हुए भी इस 'इन्द्रिय-निग्रह' को
बहुत महत्व दिया है।[2]

१. मनःसंयम

मन के अन्तर्गत मनोभावों की भी गणना की जाती
इस मन को जीतना परम आवश्यक है। "इन्द्रियों से वि
वाला विषयानन्द बड़ा मोहक और प्रबल होता है। मन
विषयानन्द की ओर ललकता है और उनकी ओर भट
उसी में बह जाता है। प्रयत्न और साधना करते हुए भी वि

---

१. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥—मनु०

२. अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥—मनु०

पुरुष के लिए ऐसे मन को वश में करना हँसी-खेल नहीं।"[१] इसी प्रकार हमारी भावनाएँ भी तृप्ति के लिए विकल रहती हैं और हमारा मन उनको तृप्त करने के प्रयत्न में स्वयं उनका दास हो जाता है। इस प्रकार की दासता से मन को मुक्त कर इन वासनाओं और भावनाओं को दबाकर उसे इन्द्रियों और विषयों का स्वामी बना लेना चाहिए। मन को जीतने पर पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और पाँचों कर्मेन्द्रियों को वश में रखना सहज हो जाता है।

प्रत्येक छात्र का यह लक्ष्य होना चाहिए कि वह अपने मन को जीते—उस पर संयम करे। मन दुर्वासनाओं की ओर भटक रहा हो तो उसे बलात् उस ओर से हटाकर सत्कर्मों की ओर प्रेरित करे। आत्म-संयम का यह सर्वप्रथम किन्तु सबसे कठिन सोपान है।

२. वाक्‌संयम

मनःसंयम के उपरान्त वाक्‌संयम अथवा वाणी का संयम आता है। मुख से कुछ बोलने के पूर्व मन में विचार कर लेना बहुत उपयुक्त होता है। बिना समझे-बूझे बोल बैठने से कभी-कभी अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। अर्जुन प्रायः बिना समझे-बूझे बोल बैठते थे और इसके कारण उन्हें अनेक बार कई कठिनाइयाँ भोगनी पड़ी। अर्जुन ने सहसा प्रतिज्ञा कर ली कि यदि मैं सूर्यास्त के पूर्व ही अपने पुत्र के घातक जयद्रथ का वध न कर डालूँ तो मैं स्वयं चिता में जलकर प्राण दे दूँगा। उनकी इस प्रतिज्ञा को सफल बनाने के लिए श्रीकृष्ण

१. इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभंमनः।
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ॥—गीता

को हस्तक्षेप करना पड़ा। जयद्रथ सूर्यास्त होने के पूर्व अ
के सामने ही नहीं आना चाहता था। उसे बाहर लाने के
श्रीकृष्ण ने असमय ही सूर्य को अपनी माया से ढक दि
इसी प्रकार अन्य अवसरों पर तो वे युधिष्ठिर से भी बिगड़
थे। स्वर्गारोहण के अवसर पर वे मार्ग में ही मर गये
युधिष्ठिर ने इसका कारण बताते हुए कहा था :

"अर्जुन ने प्रतिज्ञा की थी कि वे एक ही दिन में सम
शत्रुओं का विनाश कर देंगे। परन्तु जैसी बढ़-चढ़कर उन्हें
बातें कीं वैसा वे कर नहीं पाये। उनकी वीरता का दर्प चू
चूर हो गया। यही कारण है कि वे यहीं पर छूट गये हैं।"

जिसने वाणी पर--जिह्वा पर--संयम कर लिया उ
आत्म-संयम के द्वारा पहुँचा ही समझिए।

३. काय-संयम

अन्तिम संयम है काया या शरीर पर नियंत्रण रखना
हमारे शरीर पर, शरीर के प्रत्येक अवयव पर, हमारा इतन
संयम रहना चाहिए कि वह अपनी तृप्ति के लिए हमें पा
को ओर न जाने दे। शरीर को जीतने का समय युवावस्थ
है, क्योंकि उसी अवस्था में हम इस पर सहज ही नियन्त्रण
कर उसे सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त कर सकते हैं। कोई काम करते-
करते हमारे शरीर के किसी भी अवयव का एक विशेष स्वभाव
बन जाता है। उस स्वभाव को बदलना बड़ा कठिन काम है।
परन्तु यदि हम दृढ़ निश्चय और लगन के साथ उसको बदलने
में जुट जायें तो निश्चय ही पुराने अवांछित मार्ग को छोड़
नये मार्ग की ओर उसे लगाने में विशेष कठिनता नहीं

गीता में इन तीनों प्रकार के संयमों को त्रिविधि-तप कहा गया है :

"देवता, ब्राह्मण, गुरुजन, पण्डित और अतिथि का पूजन, ब्रह्मचर्य का पालन और अहिंसा—ये सब शारीरिक तप अथवा 'काय-संयम' कहे जाते हैं।"[1]

"ऐसी बात कहना जिससे किसी के चित्त को दु:ख न पहुँचे और जो सत्य एवं मधुर होने के साथ ही हितकारी भी हो—इसे वाचिक तप या 'वाक्संयम' कहते हैं।"[2]

"मन की प्रसन्नता, सौम्यता (शान्त भाव), मौन (मित-भाषिता), मन का दमन और अन्तःकरण की पवित्रता इसे मानसिक तप या 'मनःसंयम' कहते हैं।"[3]

कामना-त्याग—कामना सब दुःखों और विपत्तियों की जड़ है। अपने आत्म-संयम के द्वारा इस कामना से छुटकारा पाने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। धन, ऐश्वर्य और सांसारिक सुखों की कामना अतृप्त रहने से अनेक दुःख होते हैं। किन्तु वास्तविक शान्ति तो इन कामनाओं के अभाव से मिलती है न कि इनकी तृप्ति से। जैसे 'हव्य' (हवन का पदार्थ—घी आदि) से आग उद्दीप्त ही होती है (शान्त नहीं) वैसे ही कामना की पूर्ति या तृप्ति से कामनाएँ (बढ़ती जाती हैं।)

---

१. देवद्विज गुरु प्राज्ञ देवनातिथिपूजनम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

२. अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

३. मनःप्रसाद सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भाव-संशुद्धिरित्येत्तपो मानसमुच्यते॥—गीता

शान्त नहीं होती।¹ धन के लालची मंकी ने धनोपार्जन के अनेक उपाय किये पर बार-बार निराशा ही उनके हाथ लगी। अन्त में उसने अपनी बची-खुची पूँजी से दो बछड़े खरीदे। जब वह उन्हें जुए में जोतकर घुमाने ले गया तो वे दोनों भागने में भागे हुए ऊँट से उलझकर मर गये। इसने मंकी की ज्ञान की आँखें खोल दीं। उसकी सारी कामना नष्ट हो गयी और वह हर्षातिरेक से गा उठा :

"सुख चाहने वाले को कामना का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। शुकदेवजी ने ठीक ही कहा था—जिसकी समस्त कामनाएँ पूरी हो जाती हैं और जो समस्त कामनाओं को त्याग देता है—इन दोनों में प्रथम की अपेक्षा द्वितीय श्रेष्ठ माना जाता है। क्योंकि कामनाओं का अन्त नहीं होता, न सभी कामनाओं की तृप्ति ही सम्भव है। आज तक कामनाओं के पीछे मैंने बड़े दुःख सहे हैं। आज काम और लोभ का त्याग कर मैं सुखी हो गया हूँ। अब मैं जाग गया हूँ। अतः कामना मुझे अब वशीभूत नहीं कर सकेगी। काम और क्रोध, दुःख, निर्लज्जता और असन्तोष को उत्पन्न करने वाले हैं। ज्यों-ज्यों त्याग किया जाता है त्यों-त्यों सुख में वृद्धि होती है। अब मैं इन कामनाओं को पास नहीं फटकने दूँगा। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए कभी चेष्टा नहीं करूँगा। आज से मैं इस कामना को अपना शत्रु समझता हूँ। इस संसार में काम से जो कुछ भी सुख मिलता है वह तृष्णा-क्षय-जन्य सुख के सोलहवें

---

१. न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥—महा०

भाग के बराबर भी नहीं है। आज मुझे सच्ची तृप्ति, सच्ची शान्ति मिली है।"

इस प्रकार कामना के नाश में मकी को सब कुछ मिल गया।

इस प्रसंग में दुर्दान्त कामनाओं के वशीभूत राजा ययाति की कहानी भी मनन करने योग्य है।

चन्द्रवंशी नहुष के पुत्र राजा ययाति बड़े विलासी थे। इन्द्रियों की इसी दासता के कारण उन्हें अपने श्वसुर और दैत्य-गुरु शुक्राचार्य का कोप-भाजन बनना पड़ा। शुक्राचार्य के शाप से युवावस्था के मध्यान्ह में ही वे सहसा वृद्ध हो गये। बहुत अनुनय-विनय करने पर शुक्राचार्य ने दयापूर्वक कहा :

"यदि तुम्हारा कोई पुत्र स्वेच्छा से अपना यौवन तुम्हारे जरा-जर्जर वृद्ध शरीर से बदलने को तैयार हो तो तुम पुनः एक सहस्र वर्ष तक युवा बन सकते हो।"

ययाति ने क्रमशः पाँचों पुत्रों से अपने बुढ़ापे के बदले यौवन मांगा। पाँचवें पुत्र ने पिता के प्रति सम्मान और स्नेह के कारण एक सहस्र वर्ष के लिए अपना यौवन उन्हें दे दिया। किन्तु सहस्र वर्ष पर्यन्त निरन्तर अपनी इन्द्रियों के विषयों का उपभोग करते रहने पर भी वासना की तृप्ति नहीं हो सकी। ज्यों-ज्यों वह वासनाओं के पीछे पड़ते जाते, त्यों-त्यों वासना की अग्नि और भी उद्दीप्त होती जाती। सहस्र वर्ष के अन्त में उन्हें ज्ञान हुआ कि तृप्ति से वासना बढ़ती जाती है, शान्त नहीं होती। और अपने पुत्र पुरु को युवावस्था लौटाकर उसका राज्याभिषेक कर वह वन को चले गये।

अहिंसा—'अहिंसा' की गणना भी शारीरिक तप में की

गयी है। भीष्म पितामह ने भी *'अहिंसा'* को ही सर्वश्रेष्ठ
माना है। दूसरों को किसी प्रकार भी शारीरिक या मान
कष्ट न पहुँचाना ही 'अहिंसा' है। इसलिए हमें सदा
की सहायता करनी चाहिए और उन्हें किसी प्रकार भी
नहीं पहुँचानी चाहिए। श्रेष्ठ मनुष्य वह है जो सब पर
करता है—जिस व्यवहार से उसे स्वयं चोट पहुँचती है
व्यवहार वह दूसरों के साथ भी नहीं करता।

प्रायः अविचारशीलता के कारण लोग दूसरों को
पहुँचाते हैं। इसका परिणाम कभी बहुत भयंकर हो बैठता
युधिष्ठिर आदि पाण्डव और दुर्योधन आदि कौरव बचपन
एक साथ रहते और अध्ययन करते थे। भीम उन सब में
पुष्ट और बलवान था। वह अपनी अविचारशीलता के कार
अपने से दुर्बल बालकों को अनेक प्रकार से सताया करता था
कभी उनमें से कई बालक पेड़ पर चढ़कर फल तोड़ने लगते
वह पेड़ को झकझोरकर पके फल की भाँति बालकों को नी
गिरा देता। भीम इस बात को हँसी में लेता और जब बाल
गिर पड़ते तो ठठाकर हँसने लगता। भीम के इस कार्य
बालकों को चोट लगती—शरीर में ही नहीं मन में भी। ज
हस्तिनापुर के पास बहती हुई जमुना नदी में विद्यार्थी स्ना
करते या तैरते तो भीम पानी में गोता लगाकर नीचे-नीचे
तैरता और कुछ बालकों को पकड़कर पानी में खींच लेत
और अनेक प्रकार से उन्हें तंग करता। दूसरों को कष्ट होता,
पर उसे मजा आता। परिणाम यही हुआ कि सताए हुए बालक
भीम के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना प्रदर्शित करने

---

१. अहिंसा परमोधर्मः।

लगे। आगे चलकर यह घृणा की आग इतनी प्रज्वलित हो गयी कि उसमें कौरव और पाण्डव दोनों समान रूप से भस्म हो गये। भीम का लड़कपन और उसकी अविचारशीलता महाभारत के युद्ध के प्रधान कारणों में से है। यह सच है कि बाह्य पदार्थों के अभाव में चिनगारी से आग नहीं सुलग सकती, विकृत तन्तुओं के अभाव में कीटाणुओं से रोग उत्पन्न नहीं हो सकता। तथापि जहाँ तक सम्भव हो इस प्रकार की विध्वंसक चिनगारी या मृत्युकारक कीटाणु से बचने में ही लाभ है। जब अविचारपूर्ण शक्ति के प्रयोग से किसी ऐसे दुर्बल को सताया जाता है जो प्रतिकार नहीं कर सकता तब उस समय का दबाया हुआ क्रोध द्वेष और घृणा में बदल जाता है। और दुर्बल में इस भावना को उत्पन्न करने का उत्तरदायित्व भी दुर्बल को सताने वाले बलवान के ही ऊपर है। जिस व्यक्ति के अवचेतन मन में इस प्रकार की अत्याचार की प्रवृत्ति छिपी हुई होती है वह इस प्रकार के नटखटपन को निर्दोष बतलाकर इसका समर्थन ही करेगा। परन्तु निष्पक्ष और न्यायपूर्ण दृष्टि से देखने वाले को यह कार्य अत्यन्त क्षुद्र और अत्याचार प्रतीत होगा। महाभारत का अध्ययन करने वाले यह बात भली भाँति जानते हैं कि न पाण्डव सर्वथा निर्दोष थे, न कौरव सर्वथा दोषी।

इस प्रकार मन, वाणी और काया इन तीनों का उचित संयम ही सदाचरण है। जो मनुष्य अपने पास-पड़ोस वालों से व्यवहार करते हुए अपनी भावना, अपने मन और वाणी का उचित संयम करता है, उसी को हम 'आत्म-संयमी' पुरुष कह सकते हैं।

अगले अध्यायों में हम यह विचार करेंगे कि मनुष्य और

चौथा अध्याय

गुरुजनों के प्रति आचरण

राष्ट्रदेवो भव

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव,

आचार्यदेवो भव ।

"अपने राष्ट्र, माता, पिता और गुरु को देवतुल्य मानो।"

निःस्वार्थ प्रेम हमें दूसरों के लिए बलिदान करने को प्रेरित करता है। साथ ही सार्वजनिक हित के लिए आत्म-दमन भी सिखाता है। इसलिए इस प्रकार का प्रेम सभी पुण्यों का, एकता का पाठ पढाने वाले सभी गुणों का, मूल कारण होता है। इसके ठीक विपरीत घृणा हमें केवल निजी सुख भोग के लिए दूसरों को हानि पहुँचाकर सभी काम्य वस्तुओं को छीनने—दूसरों को उनसे वंचित करने—के लिए प्रेरित करती है। इसलिए आपस में भेद-भाव डालने वाली यह घृणा ही सभी पापों की जड है। इसके अतिरिक्त अपने प्रिय-जन के लिए स्वार्थ का बलिदान करने से हमें सुख मिलता है। दूसरों के लिए कुछ करने में, उन्हें कुछ देने में, हमें जो आनन्द होता है वही वास्तविक और आत्मिक आनन्द है। दूसरों से लेने का आनन्द केवल शारीरिक आनन्द है और यह आत्मिक आनन्द की समता नही कर सकता।

जिनके प्रति हमारी पूज्य-भावना होती है वे सब हमारे गुरुजन हैं। ईश्वर, राजा (आज राष्ट्र), माता-पिता, विद्या-दान देने वाला और वयोवृद्ध—ये सब हमारे गुरु स्थानीय हैं। इस

अध्याय में हम यह विवेचन करना चाहते हैं कि इन गुरुजनों के प्रति हमें किस प्रकार का आचरण करना चाहिए।

ईश्वर-भक्ति

ईश्वर के प्रति श्रद्धा, भक्ति, उसका षोडशोपचार से पूजन, तथा उसकी इच्छा के सामने सदा अवनत होना—इन चार प्रकारों से ईश्वर के प्रति निष्ठा या भक्ति को प्रकट किया जा सकता है। प्रत्येक ईश्वर-भक्त में ये चार गुण अवश्य पाये जाते हैं। भीष्म विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण का सम्मान एवं पूजन करते थे। राजसूय यज्ञ के समय उन्होंने युधिष्ठिर को सर्वप्रथम श्रीकृष्ण को अर्घ्य देने की आज्ञा दी थी। देवर्षि नारद कहते हैं :

> "जो अखिल ब्रह्माण्ड के पुराणतम पुरुष श्रीकृष्ण की पूजा का समर्थन नहीं करते उनके साथ न तो मीठे शब्दों में बोलना ही उचित है, न उनकी ओर ध्यान देना ही। जो राजीवलोचन कृष्ण की पूजा नहीं करते, उन्हें जीते-जी मृतक समझना चाहिए।"

जिन दिनों भीष्म मृत्यु की अपेक्षा में शर-शय्या पर पड़े हुए थे, उन दिनों भी वे मनसा-वाचा-कर्मणा कृष्ण का ही चिन्तन कर रहे थे और उनका ध्यान एक मात्र श्रीकृष्ण का आशीर्वाद प्राप्त करने की ओर था। विष्णु-सहस्र-नाम के पाठ के साथ ही उन्होंने अपने महोपदेश को समाप्त किया। सबसे विदा लेने के पूर्व उन्होंने श्रीकृष्ण से संसार-त्याग की अनुमति ली।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु के पुत्र में हम भगवद्भक्ति का एक अश्रुतपूर्व निदर्शन पाते हैं। अपने पिता के द्वारा नियुक्त

अनेक शिक्षकों के होते हुए भी उसने दृढ़ता से 'हरि' की स्तुति करना एवं 'हरि' 'हरि' की रट लगाना नहीं छोड़ा। उसके पिता ने उसको अनेक धमकियाँ दीं, यहाँ तक कि उसको मारने तक के प्रयत्न किये। पर यह सब व्यर्थ हुआ। जंगली हाथी उसको पैरों तले रौंदने के लिए भेजा गया; पर हाथी उसका बाल भी बाँका न कर सका। उसको कुचल डालने के विचार से बड़ी-बड़ी चट्टानें उसके ऊपर एक के ऊपर एक रक्खी गयीं, परन्तु वे उसकी छाती पर रुई के समान हलकी जान पड़ीं। तलवार उसका सिर काटने के बदले उसकी गर्दन पर पड़ते ही कुन्द हो गयी। वह विष जो उसकी नस-नस में प्रवेश कर उसे मार डालने के लिए दिया गया था, उसके लिये निरुपद्रव सिद्ध हुआ। अन्त में स्फटिक-स्तम्भ को फाड़कर नृसिंहावतार प्रकट हुए और उन्होंने नृशंस घातक हिरण्यकशिपु के चंगुल से हरि-भक्त प्रह्लाद को मुक्त किया।

अपनी निष्ठुर विमाता के दुर्व्यवहार से पीड़ित भक्त-श्रेष्ठ बालक ध्रुव अपने पिता के राज-प्रासाद को छोड़कर वन को चला गया। वहाँ उसकी अभूतपूर्व भगवद्भक्ति तथा भगवान् की पूजा में अचल अनुराग देखकर 'हरि' उसके सामने प्रकट हुए और उसको त्रिलोकी की सीमा पर स्थित ध्रुवलोक का राज्य दे दिया, जहाँ वह अब भी राज्य करता है।

रामचन्द्रजी के पूर्ण मानव-चरित्र में विशेष उल्लेखनीय विषय है दैवी-इच्छा पर उनकी अचल आस्था। भाग्य-चक्र के फेर से उनको एकाएक राज्य-सिंहासन से वंचित हो वनवास जाना पड़ा। इस समाचार से प्रजा वर्ग में बड़ी खलबली मच गयी। परन्तु उन्होंने यह कहकर लोगों को शान्त किया कि

"ईश्वर जो कुछ करता है, वह सब भलाई के लिए।" स्वयं इसको जानते थे कि समस्त व क्षणभंगुर और परिवर्तनशील संसार में "सत्य" क्या है। अतएव इस भयंकर व्यथा से तनिक भी विचलित न हुए।

इसके ठीक विपरीत ग्रन्थों में उन व्यक्तियों के पराभव का वर्णन भी पढ़ने में आता है, जो परमेश्वर की अवमानना करते थे। लंका के अधिपति रावण के समान बड़े-बड़े शासकों का पतन केवल इसीलिए हुआ कि वे अपने को ईश्वर का शत्रु समझते थे और उन्होंने ईश्वर की इच्छा के प्रतिकूल त्रिलोकी को अपने अत्याचारों से सताना आरम्भ कर दिया था। मगध-राज जरासन्ध ने अनेक राजाओं को बन्द कर लिया था। श्रीकृष्ण ने उसको समझाया और ऐसा अत्याचार करने से रोका। परन्तु उसने उनकी आज्ञा की अवहेलना की। फलतः वह भीम के हाथों मारा गया। श्रीकृष्ण का ईश्वरत्व अस्वीकार करने के कारण शिशुपाल उनके चक्र से मारा गया। श्रीकृष्ण की सलाह की बार-बार अवहेलना करने के कारण दुर्योधन अपने बन्धु-बान्धवों सहित नष्ट हो गया। कहाँ तक कहा जाय। ऐसे लोगों का केवल नाम गिनाने में भी कई पृष्ठ रँगने पड़ेंगे। परन्तु इन सब के चरित्रों से यह चेतावनी मिलती है कि ईश्वर से विमुख होने वालों में, ईश्वर की सत्ता न मानने वालों में, अहंकार और दर्प की भावना आ जाती है और यह मिथ्या दर्प ही उनके विनाश का कारण बन जाता है।

राज-भक्ति

शास्त्रों में राज-भक्ति को ईश्वर-भक्ति से कम महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया गया है। राजा को ईश्वर का ही प्रतिरूप

माना गया है। मनु कहते हैं कि "जब अराजकता के कारण प्रजा में सर्वत्र हाहाकार और आतंक छा गया तब इस लोक की रक्षा के लिए ईश्वर ने राजा की सृष्टि की।" इस प्रकार राजा वह ईश्वरीय विभूति है जो अपने तप, तेज, पराक्रम और धर्म से सब प्रजा की रक्षा करता है। राज्य के पालक और अधिष्ठाता के रूप में राजा की भक्ति का शास्त्रों में केवल विधान ही नहीं है किन्तु उनमें राज-भक्ति के अनेक दृष्टान्त भी उपलब्ध हैं। युधिष्ठिर जब इन्द्रप्रस्थ के राजा थे तो उनके चारों भाई दिग्विजय को गये। जो कुछ धन-सम्पत्ति, देश आदि उनको प्राप्त हुए वे सब उन्होंने अपने भाई राजा युधिष्ठिर के चरणों में समर्पण कर दिये। वे अपने राजा के लिए लड़े, न कि अपने लिए। इसी प्रकार जब अक्ष-युद्ध (द्यूत-क्रीड़ा)में पराजित होने पर युधिष्ठिर को वनवास हुआ, तब प्रजा-वर्ग धृतराष्ट्र के प्रति राज-भक्ति को छोड़कर उनका अनुसरण करने को नगर से बाहर निकल आया। परन्तु राज-भक्त युधिष्ठिर ने उनको हस्तिनापुर लौटकर अपने वर्तमान शासक की आज्ञा का पालन करने का उपदेश दिया। क्योंकि वे जानते थे कि बिना राज-भक्ति के कोई भी उन्नति नहीं कर सकता।

परन्तु प्रजा में यह राज-भक्ति तभी आ सकती है, जब राजा प्रजा के प्रति अपने कर्त्तव्यों का यथोचित प्रति-पालन करे और राजत्व के महान् आदर्शों का अनुसरण करे। अंगिरा के वंशज उतथ्य ने युवनाश्व के पुत्र मांधाता को उपदेश देते हुए कहा था :

"धर्म का आचरण करने से ही राजा 'राजा' कहलाने का अधिकारी हो सकता है, न कि स्वेच्छानुसार आचरण करने से।

श्री मांधाता ! राजा जगत् का रक्षक है। यदि वह न्यायाचरण करता है तो वह 'पृथ्वी का ईश्वर' कहकर सम्मानित और पूजित होता है। परन्तु अन्यायाचरण से वह नरक में जाता है। समस्त सृष्टि धर्म पर स्थित है, किन्तु धर्म राज्याश्रित है। केवल वही वास्तव में 'राजा' कहा जा सकता है, जो धर्म-पथ पर चलता है। यदि वह अन्यायी को दण्ड नहीं देता तो देवता उसके प्रसाद को छोड़ देते हैं और उसके ऊपर कृपा नहीं करते। मनुष्य उसे बुरा-भला कहते हैं।"

देश-भक्ति या राष्ट्र-प्रेम

आज के युग में 'राजा' का अर्थ 'प्रभुसत्ता' लेना उपयुक्त होगा। चाहे व्यक्ति के रूप में हो चाहे समाज के रूप में, जो भी सत्ता बुद्धि और विवेकपूर्वक सत्य-निष्ठा से प्रजा का शासन कर उसकी रक्षा करती है उसी को हम 'राजा' का स्थानापन्न मान सकते हैं। पृथ्वी में धर्म की प्रतिष्ठा करने में जो भी सत्ता समर्थ हो उसे ही हम 'राजा' कहेंगे। एक समय था जब 'राज-भक्ति' ही 'देश-भक्ति' समझी जाती थी। स्वदेशानुराग (देश के प्रति प्रेम) तथा सार्वजनिक हित (स्वार्थ-रहित राष्ट्र का ध्यान)—ये दोनों गुण राज-भक्ति से इतने सम्बद्ध थे कि हम इन्हें अलग कर ही नहीं सकते थे। राज-भक्ति के क्षेत्र में 'नरेश' और 'देश' दोनों आ जाते थे। पर आज 'देश-भक्ति' का अर्थ 'राज-भक्ति' नहीं है। कभी-कभी तो देश-भक्ति और राज-भक्ति में विरोध भी आ जाता है। ऐसे अवसर पर राज-भक्ति से देश-भक्ति बड़ी समझी जाती है और देश या राष्ट्र के हित के लिए राजा का बलिदान किया जा सकता है। प्रत्येक राष्ट्राभिमानी के हृदय में अपने देश, अपने

ा की संस्कृति तथा अपने देश की भाषा के प्रति प्रेम और
भिमान सहज ही होता है और वह अपनी जन्मभूमि, अपने
ष्ट्र और अपनी राष्ट्रभाषा के लिए प्राणों का उत्सर्ग करने
सदैव तत्पर रहता है। जिस देश के निवासियों के हृदय
यह उत्सर्ग-भावना नहीं होती वह राष्ट्र पराधीन होकर
पनी सुख-शान्ति और समृद्धि को सदा के लिए खो बैठता है।
श-भक्ति एवं सार्वजनीन हित के बिना राष्ट्रीय महत्ता का
स्तित्व ही नहीं रह सकता। यदि कुछ ध्यान से विचारा
ाय तो इस राष्ट्रीय महत्ता का अर्थ है पारिवारिक एवं
यक्तिकसमृद्धि। पूर्ण को अंश से भिन्न नहीं किया जा सकता।
ार्वजनीन हित का ध्यान रखने वाला मनुष्य देश की विजय
था आपत्तियों को अपनी ही समझता है—और वास्तव में
हैं भी उसकी ही। यह भावना उसको इस बात के लिए
यत्न करने को प्रेरित करती है कि वह अन्याय से दुर्बलों की
क्षा कर, अनौचित्य का निवारण करे, धर्म पर स्थिर रहे,
याय के लिए लड़े, समाज को हानि पहुँचाकर अनुचित लाभ
उठाना एकदम अस्वीकार कर दे, अपने समाज के प्रति कर्त्तव्य
से मुख मोड़कर उसे धोखा न दे। प्राचीन भारत के वीरात्माओं
के विषय में यह प्रख्यात है कि वे "परोपकारनिरत" थे।
श्रीकृष्ण अर्जुन को "लोकरक्षा" तथा "मनुष्यमात्र के भरण-
पोषण" की आज्ञा देते हैं। जो व्यक्ति केवल अपने और अपने
कुटुम्ब की चिन्ता में मग्न रहता है, वह अदूरदर्शी है और वह
वास्तव में अपने और उनके भावी सुख के लिए गढ़ा खोद
रहा है।

माता-पिता की भक्ति

"अपने माता-पिता की आज्ञा का प्रति-पालन करो" यह उपदेश न जाने कितनी बार हमारे धार्मिक ग्रंथों में दुहराया गया है। मनुष्य जाति के लिए महान् आदर्श-स्वरूप मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र ने अपने पिता की आज्ञा का प्रति-पालन किया था। कैकेयी ने राजा दशरथ को वाग्जाल में फँसाकर उनसे राम को वनवास देने की प्रतिज्ञा करा ली। इतने में राम वहाँ आ पहुँचे और कैकेयी से पिता की अस्वस्थता का कारण पूछा। कैकेयी ने उत्तर दिया :

"तुम्हारे पिता अपनी इच्छा प्रकट करने में शंकित हो रहे हैं।"

राम ने तुरन्त उत्तर दिया :

"मेरी परम माननीय माताजी, राजा की इच्छा शीघ्र मुझे सूचित कीजिए। मैं उसे अवश्य पूर्ण करूँगा। अपने पिता की आज्ञा से मैं आग में भी कूद सकता हूँ, हलाहल विष खा सकता हूँ।"

और जब कैकेयी ने राम को राज्य के बदले वनवास की आज्ञा सुनाई तो राम के मन में किंचिन्मात्र भी विकार नहीं आया और वे पिता की आज्ञा को शिरोधार्य कर तुरन्त वन जाने को तैयार हो गये। उन्होंने कैकेयी से कहा :

"पिता की सेवा अथवा उनकी आज्ञा के पालन से बढ़कर दूसरा कोई धर्माचरण नहीं है। वस्तुतः उनके वचनों का प्रतिपालन ही उनकी सर्वोत्तम सेवा है।"[१]

---

१. न ह्यतो धर्मचरणं किंचिदस्ति महत्तरम्।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया ॥—वा० रा०

उनको इस कार्य से विरत करने के लिए, उन्हें वन जाने से रोकने के लिए अनेक प्रयत्न किये गये। परन्तु वे अपने वचन पर दृढ़ रहे और उन्होंने उत्तर दिया :

"माता-पिता की आज्ञा के पालन की प्रतिज्ञा कर उससे मुख मोड़ना शोभा नहीं देता। माता के मुख से सुनी हुई पिता की आज्ञा का उल्लघन करने की शक्ति मुझ में नहीं है। मैं अवश्य पिता की आज्ञा का पालन करूंगा।"

इसके अनन्तर राजा दशरथ के परलोकगत होने पर भरत को अनिच्छापूर्वक उत्तराधिकारी बनना पड़ा। वे राज-मुकुट को लेकर रामचन्द्रजी को लौटाने के लिए चित्रकूट पहुंचे और बहुत अनुनय-विनय कर उनसे लौटने का अनुरोध किया। परन्तु राम ने केवल यह कहकर भरत को लौटने को बाध्य किया कि पिता ने मुझे वनवास और तुमको राज्य-सिंहासन दिया है। हम में से प्रत्येक को पिता की आज्ञानुसार अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। पिता की आज्ञा का उल्लघन करना कदापि श्रेय नहीं है।

महाभारत में एक ऐसे ब्रह्मज्ञानी का उपाख्यान है, जिसने बहेलिए की अपवित्र योनि में जन्म ग्रहण किया था। एक ब्राह्मण कौशिक उसके पास जिज्ञासु रूप से आया। वह उस ब्राह्मण को अपने माता-पिता के पास एक अत्यन्त रमणीय कोठरी में ले गया जो उसने अपने वयोवृद्ध माता-पिता के निवास के लिए बनाई थी और उससे कहा कि मेरा ज्ञान और मेरी इस सुख-शान्ति का मूल कारण एकमात्र पितृ-भक्ति है। अपने माता-पिता को विनीत भाव से अभिवादन कर उसने उनको अपने अतिथि का परिचय दिया। तदनन्तर उससे कहा :

"ये मेरे माता-पिता ही मेरे लिए देव-मूर्तियाँ हैं। मैं इन्हीं का पूजन करता हूँ। देवताओं के लिए जो कुछ कर्त्तव्य है, उसका पालन मैं उनके प्रति ही करता हूँ।...... मेरे लिए वे तीन पवित्र यज्ञाग्नियों के समान हैं। हे ब्राह्मण! मेरी दृष्टि में इनका स्थान यज्ञादि तथा चार वेदों से किसी प्रकार घटकर नहीं है। हे सद्‌ब्राह्मण! माता, पिता, यज्ञाग्नि, आत्मा और गुरु, ये पाँच परम आदरणीय हैं। तुमने चारों वेदों के अध्ययन की अभिलाषा पूर्ण करने हेतु अपने माता-पिता को छोड़कर अच्छा नहीं किया। तुमको पुनः उनके पास वापस जाकर उन्हें सन्तुष्ट करना चाहिए। अपने माता-पिता के पास लौट जाओ, और उनका सम्मान करने में दत्तचित्त रहो। मेरी समझ में इससे उत्तम गुण और कोई नहीं है।"

पितृ-भक्त भीष्म पितामह को कौन नहीं जानता। उनके पिता सत्यवती से विवाह करने को मन ही मन उद्विग्न एवं लालायित हो रहे थे। भीष्म ने अपने पिता के लिए सत्यवती को प्राप्त करने में अपूर्व आत्म-त्याग दिखाया। राज्य-सिंहासन का अधिकार तो त्याग ही दिया, साथ ही आजन्म अविवाहित रहने का भी व्रत ले लिया। इसी पर उन्होंने यह वरदान प्राप्त किया कि 'मृत्यु' उनकी इच्छा के बिना उनका स्पर्श तक न कर सकेगी। चन्द्रवंशी राजा शान्तनु सुन्दरी सत्यवती से विवाह करना चाहते थे। परन्तु अपने प्रिय पुत्र भीष्म के कारण उनको अपनी इस इच्छा का संवरण करना पड़ा। उन्होंने अपने मन में सोचा कि सम्भवतः सौतेली माता उनके प्रिय पुत्र के कष्ट का कारण हो। उनके मानसिक दुःख की छाया उनके चिन्तित मुख

पर लक्षित होने लगी। इस पर भीष्म ने अपने मन्त्रियों से पूछ-ताछकर इस चिन्ता का कारण ज्ञात कर लिया। वे तुरन्त सत्यवती के पिता के पास गये और उससे याचना की कि शान्तनु के साथ सत्यवती का विवाह कर दिया जाय। उसके पिता ने कहा :

"राजा वृद्ध हैं, शीघ्र ही उनके स्थान पर तुम राज्य करोगे। मैं तो चाहता हूँ कि तुम से अपनी लड़की का विवाह करूँ।"

भीष्म ने उसे रोककर कहा :

"ऐसी पाप की बात मत कहो। जब पिताजी ने उससे विवाह करने की इच्छा की है, तब तो वह मेरी माता हो चुकी है। उसका विवाह राजा से ही करना उचित है।"

इस पर सत्यवती के पिता ने कहा :

"परन्तु मैं इस बात को केवल इसी शर्त पर स्वीकार कर सकता हूँ कि उसका ही पुत्र राजा के पश्चात् साम्राज्य का उत्तराधिकारी हो।"

भीष्म ने शीघ्र ही उत्तर दिया :

"मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं अपने जन्म-सिद्ध अधिकार को छोड़ दूँगा। मैं अपने छोटे भाई को स्वयं राज्य-सिंहासन पर बैठाऊँगा।"

परन्तु सत्यवती के पिता ने पुनः कहा :

"हम जानते हैं कि तुम अपने दिये हुए वचनों के प्रतिकूल न चलोगे। परन्तु संभवतः तुम्हारे पीछे तुम्हारी सन्तान अपने चाचा से अपने अधिकार के लिए लड़ बैठे।"

तब भीष्म ने कहा :

"मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं विवाह ही न करूँगा। इससे न मेरी सन्तान ही होगी न चाचा के अधिकार पर लड़ने वाला ही कोई रहेगा। अब तुम मुझे अपने पिता की इच्छा पूर्ण करने दो।"

उनकी इस भीषण प्रतिज्ञा को सुनकर देवों ने प्रसन्न होकर आकाशवाणी से कहा :

"आज तक तुम देवव्रत नाम से कहे जाते थे; परन्तु अपनी इस भीषण प्रतिज्ञा के कारण तुम आज से 'भीष्म'—भयंकर—नाम से प्रसिद्ध होओगे।"

सचमुच वे अपने प्रति भयंकर हो गये थे। किन्तु सच्चे हिन्दू मात्र के हृदय में उनके प्रति अत्यन्त प्रेम और श्रद्धा ने घर कर लिया है। राजा शान्तनु ने भी जब इस व्रत का समाचार सुना तो उनको अत्यन्त दुःख हुआ। परन्तु उन्होंने देखा कि प्रतिज्ञा की जा चुकी है और अब यह अन्यथा नहीं की जा सकती। अतएव उन्होंने सत्यवती से विवाह कर लिया। अपने पूर्ण पितृ-स्नेह के वशीभूत हो उन्होंने भीष्म को 'इच्छा-मृत्यु' का वरदान दिया। जो मनुष्य इस प्रकार अपनी रागात्मक वासनाओं पर विजय प्राप्त कर अपने ब्रह्मचर्य को पूर्णतया सुरक्षित रखने में समर्थ होते हैं, उनकी इच्छा के बिना मृत्यु भी उनका बाल बाँका नहीं कर सकती।

इसके ठीक विपरीत दुर्योधन को लीजिए। उसने अत्यन्त हठ और दुराग्रह के वश अपने माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन कर अपनी अविचारता के कारण युद्ध छेड़ दिया, जिसके कारण उसका वंश ही नष्ट हो गया। उसके पिता ने न जाने कितनी बार उसको पाण्डवों की उचित माँगें पूर्ण करने के लिए

समझाया और कहा कि उनकी पैतृक सम्पत्ति का एक भाग उनको अवश्य दे देना चाहिए। परन्तु दुर्योधन ने उनकी आज्ञा की अवहेलना की और अपना मनमाना किया। उसकी माता गान्धारी ने भी जब खुली सभा में उसे अपने पिता की आज्ञा मानने और उनके प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिए कहा तो उसने उनके साथ अत्यन्त कठोरता एवं अनादर का व्यवहार किया। फलतः अन्त में अनिवार्य विफलता ही उसके हाथ आई। अपने माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन और उनका अनादर करके उनको दुःखी करने वाला कोई भी पुत्र कभी सफलता पा नहीं सकता।

गुरु-भक्ति

भारतीय परम्परा में गुरु का स्थान माता-पिता से भी बढ़कर है। मनु कहते हैं :

"आचार्य, पिता, माता और ज्येष्ठ भ्राता का निरादर उनसे अपमानित होने पर भी नहीं करना चाहिए।[1] "इन तीनों (माता, पिता और गुरु) की सेवा ही सर्वश्रेष्ठ तप है।"[2]

अतएव गुरु सम्माननीय पूजनीय, एवं सेव्य हैं। प्राचीन महापुरुषों में इस महान् गुण गुरु-भक्ति की कमी नहीं पाई जाती। भारतीय बालकों के लिए ऐसे गुरु-भक्तों के आदर्श भी पर्याप्त संख्या में मिल सकते हैं। अपने गुरुजनों से लड़ने को विवश होने पर भी पाण्डवों का भीष्म और द्रोण के प्रति कितना गाढ़ा अनुराग था, कितना सम्मान था। कुरुक्षेत्र के

---

१. आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नार्तेनाप्यवमंतव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥—मनु०

२. तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।—मनु०

मैदान में युद्ध आरम्भ होने के पूर्व पाण्डव नित्य अप
को प्रणाम करते थे। जब धृष्टद्युम्न ने द्रोण के श्वे
पकड़ लिया तो अर्जुन अत्यन्त व्यथित होकर बोल

"आचार्य को जीवित ही ले आओ। उनका
करो। उनका वध करना उचित नहीं है।"

किन्तु धृष्टद्युम्न ने उनका वध कर ही तो ड
पर अर्जुन का हृदय भग्न हो गया और वे सिसक-
कहने लगे :

"मैं नरक में गिर गया हूँ, लज्जा से अभिभूत हो

भारतीय मर्यादा के अनुसार गुरु की आज्ञा का
करना केवल तभी न्याय समझा जाता है जब वह आ
पूर्व प्रतिज्ञा की विरोधिनी अथवा कर्तव्य की प्रतिघा
धर्म के परम आदर्श भीष्म के चरित्र में हम इस बात
ग्राही दृष्टान्त पाते हैं। अपने पिता शान्तनु की मृत्यु
रान्त अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उन्होंने अपने छो
चित्रांगद को राज्यासन पर बैठाया। जब चित्रांगद
में मारे गये तो उन्होंने दूसरे भाई विचित्रवीर्य को ह
के राज्य पर अधिष्ठित किया। जब वे विचित्रवीर्य
योग्य पत्नियों की खोज में थे तब उन्हें ज्ञात हुआ कि
राज अपनी तीन पुत्रियों के स्वयंवर की तैयारी कर र
उन्होंने इस बात का पता लगा लिया कि वे सब
उसके भाई के साथ विवाह करने के योग्य हैं। वे कार्
और उनके साथ विवाह करने की अभिलाषा से एक
अनेक राजाओं को एकमात्र अपने पराक्रम से युद्ध में प
कर सब के देखते-देखते उनको हर ले आए। जब मैं

हस्तिनापुर लाये तो छोटी दोनों कन्याओं—अम्बिका और अम्बालिका—ने स्वेच्छा से विचित्रवीर्य के साथ विवाह करना स्वीकार कर लिया। परन्तु सब में जेठी अम्बा ने कहा कि मैंने किसी अन्य देश के राजा शाल्व को बहुत पहले से पति रूप में वरण कर लिया है और मैं उन्हीं से विवाह करना चाहती हूँ। भीष्म ने ससम्मान उसे राजा शाल्व के पास भेज दिया। परन्तु शाल्व ने कहा :

"अम्बा लड़ाई में अन्य से जीती जा चुकी है। अतएव मैं दान रूप में पुनः उसका प्रतिग्रह नहीं कर सकता।"

शाल्व द्वारा इस प्रकार तिरस्कृत किये जाने पर अम्बा ने भीष्म से कहा :

"शाल्वराज तो अब मुझ से विवाह करेंगे नहीं। किन्तु आपने मुझे लड़ाई में जीता है, अतएव आप स्वयं मुझ से विवाह कर लें।"

भीष्म को उसके लिए बड़ा दुःख हुआ। परन्तु आजन्म ब्रह्मचर्य से रहने की पूर्व-प्रतिज्ञा के कारण वे उसकी बात पर सहमत न हो सके। इस पर अम्बा क्रुद्ध होकर उनके गुरु परशुराम के पास गयी। परशुराम ने अम्बा का ही पक्ष लिया और भीष्म को उसके साथ विवाह करने की आज्ञा दी। परन्तु भीष्म ने यह विचार कर इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया कि गुरु की अनुचित आज्ञा का पालन करने की अपेक्षा अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। फलतः परशुराम और भीष्म में घनघोर युद्ध छिड़ गया। कई दिनों तक द्वन्द्व-युद्ध होता रहा, और दोनों को अनेक घाव लगे। कई बार वे दोनों थकावट, रक्त-पात एवं भयंकर प्रहारों की वेदना

में कारण युद्ध भी हो जाते थे। परन्तु संध्या प्राप्त करते ही युद्ध पुनः आरम्भ कर दिया जाता था। होते-होते तेईसवें दिन वृद्ध परशुराम ने भीष्म का लोहा मान लिया, और भीष्म विजयी हुए और उनके कार्य का समर्थन हुआ। तथापि भीष्म, अपनी प्रतिज्ञा से ही नहीं, अम्बा को दुःखी बनाने में कारण हुए थे, अतः कर्मों के फलस्वरूप वह उनकी मृत्यु का कारण हुई।

वयोवृद्ध-सम्मान

बड़ों के प्रति कर्तव्य की चर्चा करते हुए वयोवृद्ध-सम्मान को भी गुणों अथवा गुरुओं की सूची में गिनाना कुछ अनुचित न होगा। वृद्धों के पास चिरकालोपार्जित अनुभव के प्रतिफल स्वरूप ज्ञान और विद्या का अमूल्य भण्डार संचित होता है। और वे इस ज्ञानराशि को विनयी, सुशील एवं श्रद्धावान् युवक के हित के लिए स्वेच्छा से अर्पण कर देते हैं। आज के युग में लोगों में सभ्यता के उत्कर्ष की होड़ मची है। फलतः वृद्ध-सम्मान के पैरों-तले कुचले जाने की सम्भावना है। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि बालकों के मन में वयोवृद्धों के प्रति आदर-भावना को जागृत करने का उद्योग किया जाय। भारतीय परम्परा में वयोवृद्ध होने के कारण सेवकों के प्रति भी सम्मान-भाव प्रदर्शित किया जाता रहा है। मनु कहते हैं:

"जो नित्य-प्रति वयोवृद्धों की सेवा करता है और उनको प्रणाम करने का अभ्यस्त होता है, उसकी चार वस्तुओं में वृद्धि होती है—आयु, ज्ञान, यश और बल।"[१]

---

१. अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्त आयुः प्रज्ञा यशो बलम्॥ मनु०

पाँचवाँ अध्याय

समवयस्कों के प्रति आचरण

अब हमको यह विचारना है कि अपने पास-पड़ोस के समकक्षियों के साथ हमारा व्यवहार किस प्रकार का होना चाहिए। अपने परिवार में और परिवार के बाहर भी सुख-शांति स्थापित करने के लिए यह जानना परमावश्यक है कि हमें अपने किन गुणों को विकसित करना चाहिए और किन दोषों से हमको बचना चाहिए।

कुटुम्ब राष्ट्र का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसलिए सर्व-प्रथम इस बात का विवेचन कर लेना उचित है कि हमें अपने परिवार के ही समवयस्कों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। जिन परिवारों में परस्पर शिष्टाचार बरता जाता है, शील जिन परिवारों की संस्कृति का अंग बन जाता है, ऐसे पवित्र एवं सुखी कुटुम्ब ही उन्नत राष्ट्रों एवं सफल राज्यों की जड़ हैं। सन्तान और माता-पिता में परस्पर किस प्रकार का बर्ताव होना चाहिए, यह पहले बतलाया जा चुका है। अब हम यह बतलावेंगे कि पति-पत्नी एवं भाई-बहनों में परस्पर कैसा व्यवहार उचित है।

दाम्पत्य-प्रेम

हिन्दू ग्रन्थों में पति-पत्नी को एक पवित्र बन्धन में बाँधने वाले दाम्पत्य प्रेम के सम्बन्ध में अनेक आख्यायिकाएँ कही गई हैं। भगवान् मनु कहते हैं:

"जो पति है वही पत्नी है। दोनों वास्तव में एक ही हैं,

शरीर से पृथक् रहते हुए भी प्रेम के कारण से एक हैं।"

"पति का प्रेम विचार, रक्षक एवं पालकता होता है और पत्नी का प्रेम सहचरी, सुखद एवं सानुराग। दोनों में परस्पर सामान्य अनुराग एवं विश्वास रहना चाहिए।"

श्री रामचन्द्र और सीता दाम्पत्य के आदर्श उदाहरण माने जाते हैं। उन्होंने जीवन के दुःखों को साथ ही झेला, मिल-जुलकर कठिन समस्याओं को सुलझाया और एक दूसरे पर पड़ने वाली आपत्तियों को भी साथ ही भोगा। जब राजकुमार और राजवधू के रूप में हमको उनका दर्शन पहले-पहल होता है, तब हम उन्हें आनन्दमय वातावरण में पाते हैं। राम और सीता दोनों सुखी एवं प्रसन्न हैं। रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक का शुभ दिन निकट आने पर दोनों उपवास करते हैं और दोनों एक-दूसरे की मंगल कामना के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। एकाएक वनवास का दुःखद समाचार मिलता है। सीता को इससे तनिक भी दुःख नहीं होता। वे तो केवल सदा अपने पति के साथ रहना चाहती हैं; अतएव वे भी श्री रामचन्द्रजी के साथ जाने का दृढ़ निश्चय कर लेती हैं। वे कहती हैं :

"मैं आपकी हूँ और सदा आपकी ही रहूँगी। मैं किसी दूसरे को नहीं जानती। अगर आप मुझे त्याग देंगे तो मैं निश्चय ही मर जाऊँगी। आपके साथ रहने से काँटों का स्पर्श मुझ को पतले रेशम के स्पर्श से भी सुखद प्रतीत होगा, धूल चन्दन-चूर्ण के समान जान पड़ेगी, हरी-हरी घास मुलायम विस्तर का काम देगी, पेड़ की पत्तियाँ और जड़ राजभोग से भी अधिक

१. यो भर्ता सा स्मृतांगना। —मनु०

सुस्वादु लगेंगी। हे नाथ! आपका साहचर्य ही मेरे लिए स्वर्ग है और आपका वियोग ही नरक है।"

जब राम उनसे घर रहने के लिए कहते हैं तो उनके हृदय को बड़ी मार्मिक वेदना होती है। परन्तु ज्योंही उनको साथ चलने की अनुमति मिल जाती है, वे आनन्द के मारे विह्वल हो जाती हैं। बहुमूल्य वस्त्राभूपण स्त्रियों को स्वभाव से ही प्यारे होते हैं। परन्तु सीताजी बिना किसी झिझक के अपने अमूल्य वस्त्रों एवं अलंकारों को उतारकर अपनी परिचारिकाओं को बाँट देती हैं। इसका उन्हे कुछ भी खेद नहीं होता। इस समय उनको सबसे बड़ी प्रसन्नता तो यह है कि वनवास के कारण पति से उनका वियोग न होने पाया। वन में भी हम उनको एक सरला बालिका की भाँति निर्द्वन्द्व निश्चित खेलते हुए पाते हैं। राजसी ठाठ-बाट की उन्हें कोई परवाह ही नहीं है। यहाँ तो रात-दिन अपने पति के साथ रहने को मिल जाता है। यह क्या उनके लिए कम आनन्द की बात है। सरलता एवं प्रफुल्लता होते हुए भी बुद्धिमत्ता भी उनमें पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है। जब वे दम्पति दण्डकवन में विचरण करते हैं, तब हम सीता को अपने पति के साथ गम्भीर एवं विचारपूर्ण मन्त्रणा करते हुए देखते हैं। जब प्रचण्ड बलशाली राक्षसाधिपति रावण राम की अनुपस्थिति में सीता का अपहरण कर ले जाता है, तब हम देखते हैं कि सीता के प्रेम में विह्वल राम किस प्रकार विलाप करते हैं और कैसे उनकी खोज के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं। सीता की खोज में राम इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं और उनके वियोग-दुःख से कातर हो बार-बार जोर से पुकारते हैं :

"सीते, सीते ! तुम कहाँ गईं ? कहीं छिपी तो नहीं हो ? कहीं हँसी-ठट्ठा तो नहीं कर रही हो ? प्रिये ! अब बहुत हँसी हो गयी । ऐसी हँसी किस काम की, जिससे मेरे प्राणों पर आ बीते !"

राम विलाप करते जाते हैं और खोजते जाते हैं । पर सीता का कहीं पता नहीं चलता । इधर राम की यह दशा है, उधर रावण सीता का पातिव्रत्य भंग करने के लिए अनेक लालच दिखाता है । साम, दाम, दण्ड, भेद सभी प्रकार की नीतियों का प्रयोग करता है, परन्तु सीताजी कहती हैं :

"मैं पतिव्रता हूँ, अतएव अपने पति के विरुद्ध आचरण कर उनके साथ विश्वासघात न करूँगी । तू अपने ऐश्वर्य और वैभव से मुझे नहीं ललचा सकता । जैसे सूर्य की किरण केवल सूर्य की होती है, वैसे ही मैं राम की ही हूँ ।"

अब अपने पति को मृत्यु के अधिदेवता यमराज के हाथों से मुक्त कराने वाली पुण्य-स्मरणीया सावित्री की कथा सुनिये । भद्र देश के राजा अश्वपति ने चिरकाल तक देवताओं की उपासना करने के बाद एक कन्या-रत्न पाया । कन्या का नाम उन्होंने 'सावित्री' रक्खा । वे सुवर्ण के समान देदीप्यमान एवं नवमल्लिका के समान मनोहर थीं । लोग यह समझते थे कि वे साक्षात् देवी ही हैं और उनके पुण्यकर्मों के फलस्वरूप उनको दर्शन देने आई हैं । अतएव वे देवी मानकर उनका पूजन करते थे । जब सावित्री ने युवावस्था में पदार्पण किया तब अश्वपति ने उनसे कहा :

"पुत्रि ! तुम देश-देशान्तरों में घूमकर अपने योग्य वर चुन लो ।"

सावित्री अपने पिताजी की आज्ञा से राज-परिचरों को साथ ले अपने लिए सुयोग्य पति की खोज में चली। कई महीने के पश्चात् लौटने पर उन्होंने देखा कि देवर्षि नारद उनके पिता के साथ बैठे हुए हैं। अपने पिता की आज्ञा के अनुसार उन्होंने नारद के समक्ष ही अपने चुनाव की घोषणा कर दी। उन्होंने कहा :

"शाल्वदेश के राजा द्युमत्सेन को वृद्ध एवं अन्ध होने के कारण उनके शत्रुओं ने राज्य से हटा दिया है। वे आजकल एक वन में रहकर वानप्रस्थ जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उन्ही के लड़के सत्यवान को मैंने अपना पति वरण किया है।"

इस पर नारद ने कहा :

"राजन्, बड़े दुःख की बात है कि सरला सावित्री से बड़ी-भारी भूल हो गई है।"

राजा ने पूछा :

"क्या उसका शरीर दुर्बल है, अथवा उसमें मानसिक शक्ति की तो कमी नहीं है ?"

नारद ने कहा :

"इनमें से उसमें किसी भी बात की न्यूनता नही है। सत्यवान् सूर्य के समान तेजस्वी एवं पराक्रमी, रन्तिदेव के समान उदार, शिवि के समान न्यायशील, ययाति के समान ओजस्वी, एवं चद्रमा के समान सुन्दर है। परन्तु साल भर के भीतर ही इन सब गुणों का अस्तित्व पृथ्वी से मिट जायगा। वह बहुत ही अल्पायु है।"

"खिन्न-हृदया सावित्री ने नारद मुनि का कथन सुना। इतने पर भी उन्होंने अपना निर्णय दे दिया :

"मनुष्य केवल एक बार दान करता है। मैंने एक बार अपने को सत्यवान के हाथों में अर्पण कर दिया है। अब मैं दूसरे को वरण नहीं कर सकती।"

नारद ने कहा .

"राजन् ! तुम्हारी कन्या दृढ़-संकल्पा है। अतएव मैं तुम को इस विवाह की अनुमति देता हूँ और आशीर्वाद देता हूँ कि यह विवाह शुभ हो।"

इतना कहकर नारद चल दिये।

द्रुतगामी दूत यह शुभ संदेश लेकर द्युमत्सेन के पास दौड़ाये गये। द्युमत्सेन ने प्रत्युत्तर में यह कहला भेजा :

"मैंने भी एक समय तुमसे मित्रता करने की बात सोची थी। परन्तु क्षीण-वैभव हो जाने के कारण मुझे ऐसा करना उचित न जान पड़ा। अब जब कल्याणी सावित्री स्वेच्छा से मेरे घर में आ रही है तब मुझे पूर्ण निश्चय है कि स्वयं लक्ष्मी ही हमारे पूर्व प्रासाद को सुशोभित करने वाली है।"

विवाह सानन्द सम्पन्न हो गया। सावित्री बड़े हर्ष से प्रासादों का निवास छोड़कर साधारण कुटी में आ गयी। वह बड़ी उत्सुकता से अपने सास-ससुर की इच्छा का रुख देखा करती थी। गृहस्थ के नीचातिनीच कामों के करने में भी उसे आनन्दानुभव होता था। अपने स्निग्ध व्यवहार एवं प्रेम-संभाषण से उसने अपने पति के हृदय को जीत लिया। इतना होते हुए भी वे मन ही मन अव्यक्त दुःख से दुःखी रहती थीं। नारद के कहे हुए शब्दों के कारण उनके हृदय में सदा चिंता की आग जला करती। बड़ी आतुरता से नित्य-प्रति वे उस दुःखद वर्ष के दिन गिना करती थीं। अन्ततोगत्वा सत्यवान की मृत्यु

की अवधि के केवल चार दिन रह गये। तब सावित्री ने उपवास एवं उपासना द्वारा देवताओं को प्रसन्न कर उनसे सहायता लेने का निश्चय किया। तीन दिन तक उसने निर्जल उपवास किया। निर्दिष्ट दिन के प्रातःकाल वे ब्रह्म मुहूर्त में उठी और अपना नित्य-कर्म करने के उपरान्त उन्होंने अपने गुरुजनों के चरणों का अभिवादन किया। वन में रहने वाले प्रत्येक तपस्वी ने उनको यह आशीर्वाद दिया कि उनको वैधव्य का दुःख कभी न झेलना पड़े। सत्यवान नित्य-प्रति कन्धे पर कुल्हाड़ा लेकर समिधा लाने के लिए वन में जाया करते थे। उस दिन भी जब वे जाने लगे तो सावित्री ने भी अपने सास-ससुर की अनुमति पाकर हृदय को कड़ा करके उसका अनुसरण किया। सत्यवान ने अपने साथ आने का कारण पूछा। किन्तु सावित्री ने केवल इतना ही कहा कि आज मेरी भी इच्छा आपके साथ जाने की है। वे दोनों सुरम्य पर्वतों, हरे-भरे जंगलों, निर्मल जल, नदियों एवं पशु-पक्षियों की सुन्दरता को देखते हुए वन को चले। सत्यवान ने वन में पहुँचकर अपना नैमित्तिक कार्य प्रारम्भ कर दिया। अपनी झोली फलों से भर दी और ईंधन के लिए पेड़ की सूखी टहनियों को काट गिराया। किन्तु एकाएक उनको कुछ मूर्छा-सी आने लगी और सिर में बड़े जोर का दर्द होने लगा। उन्होने सावित्री से यह सब कहा और लेट गये। सावित्री ने उनका सिर अपनी गोद में ले लिया और वहीं बैठ कर धड़कते हुए हृदय से अदृष्ट की प्रतीक्षा करने लगीं। तत्क्षण उन्होंने अपने पास ही एक अति तेजस्वी विशाल दिव्य-मूर्ति देखी, जो कृष्णवर्ण होते हुए भी देदीप्यमान थी। उसके वस्त्र लाल थे और वह अपनी तेजस्वी आँखों से एकटक

सत्यवान की ग्रोर देख रही थी। सावित्री ने धीरे से अपने पति का सिर जमीन पर रख दिया ग्रौर खड़े होकर ग्रागत मूर्ति का ग्रभिवादन किया। मूर्ति ने कहा :

"सत्यवान की ग्रायु समाप्त हो चुकी है। मैं मृत्यु का ग्रधिपति यम हूँ। सत्यवान इतना पुण्यात्मा है कि उसको ले जाने के लिए ग्रपने दूतों को न भेजकर मैंने स्वयं ही ग्राना उचित समझा।"

यह कहकर उस मूर्ति ने सत्यवान के ग्रस्थिचर्ममय पार्थिव शरीर में से सूक्ष्म शरीर को निकालकर दक्षिण दिशा की ग्रोर प्रस्थान किया। सावित्री ने भी उसका ग्रनुसरण किया। तब यम ने कहा :

"सावित्री ! बस करो, तुम लौट जाग्रो, ग्रौर ग्रपने पति का मृतक संस्कार करो। तुमने ग्रपने कर्त्तव्य का पूर्ण पालन किया है ग्रौर जहाँ तक मनुष्य से सम्भव है, वहाँ तक तुमने ग्रपने पति का साथ दिया है।"

सावित्री ने उत्तर दिया :

"जहाँ मेरे पति जा रहे हैं वहीं मैं भी जा रही हूँ। पति ग्रौर पत्नी के लिए तो यही शाश्वतिक विधान है। हे यमराज ! यदि मैंने ग्रपने स्वामी से ग्रटूट प्रेम किया हो, यदि मैंने ग्रपने गुरुजनों की सम्मानपूर्वक सेवा करने में कोई त्रुटि न की हो, ग्रथवा यदि तपस्या में कोई शक्ति हो तो ग्रापकी कृपा से मेरे मार्ग में कोई बाधा नहीं ग्रा सकती।"

ऐसा कहकर उसने एक छोटी बालिका की तरह सरल भाव से उन धार्मिक उपदेशों की ग्रावृत्ति कर दी जो उसके

प्रिय गुरुजनों ने उसको सिखलाये थे अथवा जिन्हें उसने स्वयं सीखा था :

"हे धर्मराज ! मैंने श्रद्धापूर्वक गुरुजनों की सेवा की है, गृहस्थ-धर्म की परम्परा का अनुकरण किया है, अपनी बुद्धि एवं पुण्य-बल से, विजय प्राप्त करली है। हे मृत्युदेव ! मुझे मेरे सचित कर्मफल से वंचित करके आप सदा के लिए इन पवित्र कर्मों के पथ का द्वार बन्द कर दीजिये।"

धर्मराज ने कहा :

"हे सावित्री ! तुम बड़ी बुद्धिमती हो। तुम्हारा कथन युक्ति-संगत है। तुम्हारी वाणी बड़ी मधुर है। अतएव मैं तुमको एक वरदान देता हूँ। अपने पति के प्राणों के अतिरिक्त जो चाहो सो माँग लो।"

सावित्री ने कहा :

"परम दयालु धर्मराज ! मेरे श्वसुर अन्धे हैं। आपके अनुग्रह से उनकी आँखें खुल जांय और वे पुनः प्रकाश को देखें।"

धर्मराज—"सावित्री ! इस लोक की कन्याओं में तुम सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी हो। मैं तुम्हें अभिलषित वरदान देता हूँ। परन्तु अब तुम लौट जाओ। तुम्हारा पार्थिव शरीर थक गया होगा। इस शरीर से तुम मृत्यु के अन्धकारमय मार्ग में नहीं चल सकोगी।"

सावित्री—"यमराज ! मैं तो वहीं जा रही हूँ, जहाँ मेरे पति जा रहे हैं। धर्मात्मा एवं न्यायपरायण व्यक्ति का साहचर्य सदा सफल और कल्याणकारक होता है। विशेषतः आप ऐसे महानुभाव के सत्संग में रहना तो बड़े ही पुण्य का काम है। ऐसे सत्कर्म कहीं निष्फल न सिद्ध हो जायें।"

यमराज—"सावित्री ! तुम अद्वितीय हो। अच्छा, इस सत्कर्म के फलस्वरूप तुम दूसरा वरदान ले लो। परन्तु अपने पति की आत्मा मत माँगना।"

सावित्री—"धर्मराज ! मेरे श्वशुर का राज्य उनके शत्रुओं ने छीन लिया है। अतएव आपकी कृपा से उनका खोया हुआ राज्य उनको फिर से मिल जाय।"

यमराज—"सुन्दरी ! ऐसा ही हो। तुम्हारे श्वशुर को खोया हुआ राज्य पुनः प्राप्त हो जायगा और वे उस पर बहुत दिनों तक शासन करेंगे। बस, अब लौट जाओ, हमारा अनुसरण मत करो।"

परन्तु अपने मधुर वचनों एवं उनसे भी मधुर स्तुति-गानों से यमराज को प्रसन्न करते हुए सावित्री ने फिर भी बहुत दूर तक उनका अनुसरण किया और उनसे दो और वरदान प्राप्त किये—एक से अपने पिता के लिए १०० पुत्र और दूसरे से स्वयं अपने लिए १०० पुत्र माँगे। जब चौथा वरदान स्वीकार हो गया, तब सावित्री ने धर्मानुष्ठानपूर्वक जीवन व्यतीत करने की बड़ी प्रशंसा की और कहा कि सत्कर्त्तव्य का पालन करना परम आवश्यक है। यमराज उसकी सुवाग्मिता एवं बुद्धिमत्ता पर मुग्ध हो गये और उससे एक और वरदान माँगने को कहा। सावित्री ने कहा :

"धर्मराज ! आपने मुझे १०० पुत्र पैदा करने का वरदान दिया है। अपने पति के अतिरिक्त अन्य से पुत्र उत्पन्न करने से धर्म का उल्लंघन होगा। अतएव अब आप मेरे पति को जीवित कर दीजिये।"

इस प्रकार एक पतिव्रता स्त्री ने यमराज को पराजित कर

अपने पति को पुनरुज्जीवित करा लिया और अपने पुण्य-बल से अपने वंश को समुन्नत एवं ऐश्वर्यशाली बना दिया। इस प्रकार यह देखने में आता है कि एक पतिव्रता एवं सती-साध्वी के सामने काल की भी कुछ नहीं चल सकती।

ऐसा कदाचित ही कोई भारतीय होगा जो राजा नल और दमयन्ती की कथा से परिचित न होगा। वीरसेन के पुत्र नल निषधदेश के राजा थे। वे विदर्भ देश के राजा भीम की राजकुमारी दमयन्ती से प्रेम करते थे। दमयन्ती भी नल को प्यार करती थी। वस्तुतः दोनों में से किसी ने भी एक दूसरे को नहीं देखा था। उन्होंने लोगों के मुख से एक दूसरे के बारे में यह प्रशंसा सुन रखी थी कि दोनों पृथ्वी में अनुपम सुन्दर हैं। गुण-श्रवण मात्र से दोनों में एक-दूसरे के प्रति सहज अनुराग हो गया था। दमयन्ती का स्वयवर रचा गया। इन्द्र, वरुण, अग्नि, यम आदि देवता भी दमयन्ती के पाने की लालसा से वहाँ उपस्थित थे। राजा नल भी वहाँ पहुँच गये। दमयन्ती ने नल को ही वरण किया। ग्यारह वर्ष नल और दमयन्ती ने बड़े प्रेम से सुखपूर्वक बिताए। उनकी दो सन्तानें हुईं। बारहवें वर्ष नल का भाई पुष्कर आया और उसने नल को पाँसा खेलने के लिए ललकारा। नल अस्वीकार न कर सका और जुआ खेलना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु वह बराबर हारता ही गया और उसने पुष्कर के हाथ अपना राज्य और ऐश्वर्य सब कुछ हार दिया। यहाँ तक कि अपने पहनने के वस्त्र भी उसने दाँव पर लगा दिये और उन्हें भी हार गया। तब एक मात्र धोती से ही अपने शरीर को किसी तरह ढँककर वह वन को चला गया। दमयन्ती ने जुए में हार की आशंका से

पहले ही अपने लड़के और लड़की को अपने नैहर भेज दिया था। उसने भी केवल एक ही वस्त्र पहनकर नल के पीछे-पीछे वन का मार्ग लिया। वे दोनों भूख और प्यास से व्याकुल होकर इधर-उधर भटकते हुए शहर के बाहर हुए।

पर नल के दुःखों का अन्त यहीं पर नहीं हुआ। एक समय भोजन के लिए चिड़ियों को फँसाने के निमित्त उसने धोती फैलाई। चिड़ियाँ धोती ही लेकर उड़ गयी। सब तरह से हताश एवं निराश होकर दमयन्ती को भूख-प्यास से बचाने की इच्छा से नल ने उसको बारम्बार उसके पिता के घर का मार्ग बतलाया। परन्तु दमयन्ती उससे लिपट गयी और रोती हुई कहने लगी कि मैं आपको छोड़कर कहीं न जाऊँगी। जब कभी नल बहुत थक जाते या विरक्त हो जाते तब वह उनको सान्त्वना देती थी। सचमुच दुःख में पतिव्रता स्त्री के प्रेम-भरे वचनों से बढ़कर और क्या औषधि हो सकती है। एक दिन थकी-माँदी दमयन्ती कठिन भूमि पर गहरी नींद में सो गयी। नल ने मन ही मन तर्क-वितर्क कर यही निश्चय किया कि दमयन्ती को अपने साथ दुःख में इधर-उधर भटकाने की अपेक्षा उसको अकेले छोड़ जाना ही अधिक हितकर है, क्योंकि उसको यह आशा थी कि एकाकी रह जाने पर वह किसी-न-किसी तरह किसी सम्बन्धी के पास पहुँच जायगी। यह सोचकर उसने पास पड़ी हुई तलवार से दमयन्ती की साड़ी का एक टुकड़ा फाड़ डाला और आधा उसी के शरीर पर रहने दिया। आधा टुकड़ा स्वयं पहनकर नल दुःख से उन्मत्त हो जंगल को भाग गया। अभागी दमयन्ती जब उठी तो उसने अपने को अकेले पाया। अपना दुःख उसको इतना नहीं हुआ जितनी

नल के सम्बन्ध में चिन्ता हो गयी। उसने आतुरता से नल को इधर-उधर खोजा, पर श्रम व्यर्थ हुआ। इतने में उसे एक भयंकर अजगर दिखाई दिया। उसने उसे कसकर लपेट लिया। कैसे वह उस अजगर के पंजे से निकली, फिर उसको कैसे-कैसे कष्ट उठाने पड़े और अन्त में किस प्रकार उसको चेदी देश की राजकुमारी की सखी के रूप में आश्रय मिला, ये सब बातें नलोपाख्यान में विस्तार से कही गयी हैं। इधर नल ने चारों ओर आग की लपटों में घिरे हुए एक सर्प की रक्षा की। साँप के मन्त्र से नल का रूप बदल गया और अब कोई उसको पहचान न सकता था। वह भटकते-भटकते अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण के यहाँ पहुँचा और बाहुक नाम से उसका सारथी हो गया। इस प्रकार ये दम्पत्ति जो एक-दूसरे को उतना अधिक प्यार करते थे, भाग्य-चक्र से बिछुड़ गये।

उधर राजा भीम ने नल और दमयन्ती की खोज में अनेक ब्राह्मणों को भेजा। उनमें से सुदेव नामक एक ब्राह्मण ने चेदि राजा के महल में बैठी हुई खिन्नमना दमयन्ती को पहचान लिया और राजमाता से यह करुण कहानी कही। रानी वास्तव में दमयन्ती की मौसी थी। यद्यपि यहाँ दमयन्ती के आदर-सत्कार में कोई त्रुटि न थी, तथापि नैहर और सन्तान की ममता के कारण वह विदर्भ चली गयी। राजा भीम ने फिर नल की खोज में दूत दौड़ाये। वे सब प्रत्येक जन-समुदाय में एक सन्देशा जोर से पढ़कर सुनाते थे, जिसमें एक ऐसे रहस्य की ओर इंगित किया गया था, जिसे केवल नल ही समझ सकता था। उसमें नल से यह प्रार्थना की गयी थी कि वह अपनी बिलखती हुई स्त्री के पास लौट चले। उन्होंने बहुत खोज की। अन्त में उनको एक

ऐसा व्यक्ति मिला जो उच्च स्वर से पढ़े जाते हुए उस सन्देश को सुनकर पति-परित्यक्ता वियोगिनी स्त्रियों के बारे में करुणा प्रकट करने लगा। उस व्यक्ति का नाम बाहुक था और वह अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण का सारथी था। भीम का सन्देश-वाहक शीघ्र दमयन्ती के पास लौट गया और उसे सब हाल सुना दिया। स्त्री-स्वभावोचित उसकी तत्पर बुद्धि में एक उपाय सूझ पड़ा। उसने कहा :

"दूत, तुम फिर राजा ऋतुपर्ण के पास जाओ और अयोध्या पहुँचने के ही दिन उनको सूचित कर दो कि कल ही दमयन्ती का दूसरा स्वयंवर होने वाला है।"

दमयन्ती को विश्वास था कि अयोध्या से विदर्भ तक इतनी दूर एक ही रात में रथ हाँक ले जाने की सामर्थ्य राजा नल के अतिरिक्त और किसी में नहीं है। जैसा उसने सोचा था वैसा ही हुआ। ऋतुपर्ण ने बाहुक को द्रुतवेग से विदर्भ की ओर रथ हाँकने की आज्ञा दी। बाहुक का हृदय तो बहुत दुःखी हुआ। तथापि उसने द्रुतगामी घोड़े चुने और इतनी शीघ्रता से रथ हाँका जितनी शीघ्रता से केवल वही हाँक सकता था और ऋतुपर्ण को समय पर विदर्भ पहुँचा दिया। बाहुक नल ही है या और कोई इस बात की दमयन्ती ने कई बार परीक्षा ली। अन्त में दमयन्ती के चातुर्य के सामने नल को हार माननी पड़ी और विवश होकर उसे अपना भेद खोलना ही पड़ा। दमयन्ती का सन्देह सच निकला। बाहुक वास्तव में नल ही था। नल अपने पुत्र तथा पुत्री को देखकर रोना न रोक सका। उसने जो भोजन बनाया वैसा केवल नल ही बना सकता था। तब बाहुक को दमयन्ती के पास ले जाया गया। पति तथा सती पत्नी

ने एक दूसरे को पहचान लिया। तदनन्तर दीर्घ काल तक उन्होंने पारिवारिक सुख भोगा, और राज्य फिर से प्राप्त किया।

कोई स्त्री दीर्घकाल तक अपने शरीर को कष्ट देती हुई कठोर तपस्या करके भी उतना ज्ञान नहीं पा सकती, जितना कि अपने पति के प्रति सच्चा प्रेम करने एवं उसकी सेवा करने से प्राप्त कर सकती है। उसके आध्यात्मिक विकास का मार्ग भी यही है। एक ऐसी ब्राह्मण पत्नी की कहानी सुनने में आती है जिसने पति-सेवा से ही अपनी आत्म-शान्ति को विकसित कर लिया था।

कौशिक एक ब्राह्मण था। उसने बड़ा भारी तप किया। एक दिन वह एक पेड़ के नीचे बैठा ध्यान में मग्न था। इतने में ठीक उसके ऊपर बैठे हुए एक बक ने उसके शरीर पर विष्ठा कर दी। उसने अपनी आँखों को खोला और बड़े क्रोध से बक की ओर देखा। कौशिक ने अपने तप के बल से इतनी आध्यात्मिक शक्ति संचित कर ली थी कि उसकी क्रुद्ध-दृष्टि से वह बक तत्काल वज्राहत की तरह मरकर गिर पड़ा। बक के मरने का कौशिक को दुःख तो अवश्य हुआ, परन्तु तप द्वारा प्राप्त अपनी अद्भुत शक्ति को देखकर उसको अभिमान एवं हर्ष भी कम न हुआ। वह अपने नित्य के नियम के अनुसार पास के नगर में भिक्षा माँगने गया और जिस गृहस्थ का घर उसको मिला उसकी गृहिणी से उसने भिक्षा माँगी। ज्योंही वह उसके लिए भोजन लाने को गयी त्योंही दिन भर के काम से थका-माँदा धूल से ढका हुआ उसका पति आ पहुँचा। इसलिए उसने कौशिक से थोड़ी देर तक ठहरने को कहा और स्वयं

अपने पति की सेवा में लग गयी। अपने पति की सेवा करने के उपरान्त जब वह उसके पास भोजन लेकर आई तो कौशिक बहुत क्रुद्ध हो गया और बक की अपेक्षा अधिक क्रोधपूर्ण दृष्टि से उसकी ओर देखा और उससे इतनी देर तक ब्राह्मण की उपेक्षा करने का कारण पूछा। उसने अत्यन्त मीठे स्वर में उत्तर दिया :

"आपकी अपेक्षा अपने पति की सेवा करना मेरा विशेष कर्तव्य है। ब्राह्मण देवता, अपने क्रोध का संयम कीजिये। सहिष्णुता सीखिये। मेरी ओर इस क्रूर एवं घातक दृष्टि से मत देखिये। इससे आपको ही हानि पहुँच सकती है। मैं बक नहीं हूँ।"

कौशिक इस पर आश्चर्य-चकित हो गया और उसने ब्राह्मणी से पूछा :

"तुमको यह सब कैसे ज्ञात हुआ ?"

उसने उत्तर दिया :

"मैंने आध्यात्मिक शक्ति का संचय करने के लिए कोई तपस्या नहीं की है। केवल एकाग्रचित्त से अपने पति की सेवा की है। यदि आप गृहस्थ के साधारण कर्तव्यों और उनके पालन करने के परिणाम के विषय में विशेष रूप से जानना चाहते हों तो आप सुदूर मिथिला के अमुक व्याध के पास जाइये।"

कौशिक का अभिमान चूर-चूर हो गया। वह तुरन्त मिथिला को गया। व्याध की दुकान पर उस समय बड़ी भारी भीड़ इकट्ठी हो रही थी। वह दूर खड़ा रहा। व्याध ने कौशिक को देखा तो उसके पास गया और ब्राह्मण जानकर बड़ी नम्रता से उसने उसको प्रणाम किया और कहा :

"मैं यह जानता हूँ कि उस पतिव्रता गृहिणी ने तुमको मेरे पास भेजा है। मैं तुम्हारी शंकाओं का निवारण करूँगा और

साथ ही यह भी बतलाऊँगा कि मुझ में यह आध्यात्मिक शक्ति कहाँ से आई।"

तब व्याध उनको अपने घर ले गया और अपने वयोवृद्ध माता-पिता के दर्शन कराए। फिर व्याध ने कहा :

"मुझे अपने माता-पिता की सेवा से ऐसा ज्ञान प्राप्त हुआ है और उस पतिव्रता स्त्री को, जिसने तुमको मेरे पास भेजा है, अपने पति की सेवा से दिव्य दृष्टि मिली है।"

भ्रातृ-स्नेह

भ्रातृ-स्नेह का आदर्श कैसा होना चाहिए यह हम रामायण की कथा में पढ़ चुके हैं। वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि लक्ष्मण राम के मानों प्राण ही थे। उन दोनों का प्रेम-बन्धन इतना घनिष्ठ था कि वे एक दूसरे के बिना कोई काम नहीं करते थे—न सो सकते थे और न खेल ही सकते थे। लक्ष्मण राम के साथ ही वन को चले गये। वहाँ जब राम सोते थे तो वे रात भर जागकर खड़े-खड़े पहरा देते थे। जब रावण सीता को हरकर ले गया तो लक्ष्मण भी अपने भाई के दुःख से दुःखी हुए और सीता की खोज में उनकी सहायता की। दुःख में वे उन पर संवेदना प्रकट करते और सान्त्वना देते थे और समय पर बुद्धिमत्तापूर्ण सलाह भी देते रहते थे। जब लंका में युद्ध के समय लक्ष्मण आहत होकर अचेत हो गये तब राम करुण-स्वर से विलाप करने लगे :

"हा लक्ष्मण, रण-क्षेत्र में घायल होकर तुम इस प्रकार पड़े हो। मेरा जीना व्यर्थ है। अब लड़ने से क्या लाभ? भैया, क्यों तुम मुझे छोड़कर परलोक को चले गये। तुम्हारे बिना मैं सीता को भी नहीं चाहता।"

महाभारत की कथा से भी हमको यही शिक्षा मि
कि किस प्रकार भाइयों के परस्पर प्रेम और एकता से
समृद्धि और यश प्राप्त होता है। पांडवों को न तो क
स्पर लड़ते देखा गया है, न कभी अलग-अलग जीवन
करते ही। युधिष्ठिर परिवार में ज्येष्ठ हैं। उनके छो
जो कुछ भी करते हैं सब उन्हीं के ऐश्वर्य और उन्हीं के
दय के लिए। उन्हीं के लिए वे दिग्विजय करते हैं
कुछ भी धन-समृद्धि एकत्र करते हैं सब उन्हीं को अर्पित
हैं। उन्हीं के लिए अर्जुन चिरकाल तक इधर-उधर
करते हुए कठोर तपस्या और अद्भुत परिश्रम एवं उद्
दिव्यास्त्र प्राप्त करते हैं। युधिष्ठिर भी भाइयों के सुख
को अपना ही समझते हैं। उनका स्नेह भी अपने भाइय
किसी प्रकार कम नहीं है।

युधिष्ठिर जब स्वर्ग में पहुँचाये गये तब वे बड़ी उत्सु
पूर्ण दृष्टि से इधर-उधर अपने भाइयों तथा पत्नी को दे
लगे। परन्तु दिव्य प्रभावशाली देवताओं और तेजस्वी राज
के बीच में उनको अपने प्रिय बन्धुओं के मुख न दिख
पड़े। अतएव वे बारम्बार अनुरोध करने लगे कि मैं
जाना चाहता हूँ जहाँ मेरे भाई हैं। समस्त स्वर्ग में खोजने
भी जब उनके भाई उनको न दिखलाई दिये तो उन्होंने क

"हे देवताओ, अपने भाइयों से वियुक्त होने पर
दृष्टि में आपके स्वर्ग का कुछ भी महत्त्व नहीं है। जहाँ
भाई हैं वही स्थान मेरे लिये स्वर्ग है। मैं इस स्वर्ग को स्
नहीं मानता।"

तब देवताओं ने युधिष्ठिर के पथ-प्रदर्शक देवदूत को आ

दी कि इनको उसी प्रदेश में ले जाओ जहाँ इनके प्रिय आत्मीय जन हैं। वे दोनों स्वर्ग से मुँह मोड़कर बाहर निकल आए और एक ऐसे मार्ग से होकर चलने लगे जो क्रमशः अन्धकार-मय होता जाता था। जितना ही वे अधकार की ओर अग्रसर होते थे उतना ही उनका दम घुटता जाता था। ज्यों-ज्यों वे आगे बढ़ते थे उनको वीभत्स पदार्थ मिलते थे। चारों तरफ दुर्गंध ही दुर्गंध जान पड़ती थी। बड़ी-बड़ी भयंकर आकृतियाँ उनके चतुर्दिक् एकत्र हो जाती थीं। उनके पैरों के नीचे की भूमि में रक्त के कारण फिसलन हो गयी थी और वध किये हुए व्यक्तियों की लोथों के टुकड़े इधर-उधर बिखरे हुए थे। मार्ग में कहीं तेज काँटे और चुभने वाली पत्तियाँ पड़ी थी, कहीं जलती हुई रेत में होकर चलना पड़ता था और कही उत्तप्त अंगारे के समान लाल-लाल लोहे की परतों के ऊपर से होकर जाना पड़ता था। युधिष्ठिर ने आश्चर्य-चकित होकर अपने पथ-दर्शक उस दिव्य-दूत से अपने यहाँ लाये जाने का कारण पूछा। उसने कहा:

"मुझे आपको यहीं ले जाने की आज्ञा मिली है। परन्तु यदि आप थक गये हों तो लौट सकते हैं। युधिष्ठिर को यह विश्वास था कि उनके भाई वीभत्स प्रदेश में नही रह सकते, अतएव वे सशंक चित्त से धीरे-धीरे लौट गये। परन्तु वे लौटने को ही थे कि उनको चारों ओर से आर्त एवं करुण-स्वर सुनाई पड़े। कई दयनीय शब्द चारों ओर से युधिष्ठिर से प्रार्थना करने लगे:

"आप कुछ देर ठहरें।"

युधिष्ठिर ने आश्चर्य से पूछा:

"आप कौन हैं ?"

सिसकते हुए स्वर में चारों दिशाओं से उनको उत्तर मिले :

"मैं कर्ण हूँ।"

"मैं भीम हूँ।"

"मैं अर्जुन हूँ।"

"मैं नकुल हूँ।"

"मैं सहदेव हूँ।"

"मैं द्रौपदी हूँ।"

इस प्रकार उनको अपने प्रत्येक प्रिय आत्मीय का शब्द सुनाई पड़ा। अपने भाइयों को दुःख में देखकर युधिष्ठिर को क्रोध आ गया और डपटकर उस देवदूत से कहा :

"तुम स्वर्ग को लौट जाओ। जिन्होंने तुमको मेरा पथ-प्रदर्शक बनाकर भेजा है, उन्हीं के पास वापस चले जाओ। मैं उनके साथ नहीं रहना चाहता। मेरे लिए यहीं अपने भाइयों के साथ ही उपयुक्त स्थान है। जाओ, तुम आनन्द-विहीन स्वर्ग को लौट जाओ। अकेले आनन्द भोगने की अपेक्षा इन्हीं के साथ दुःख में रहना कहीं अधिक अच्छा है।"

उनके इतना कहते ही चारों ओर दिव्य सुगन्ध फैल गयी। वह स्थान दिव्य प्रकाश से दीप्त हो गया। जिधर देखो उधर देवता ही देवता दिखलाई पड़ते थे।

अपने प्रेमियों के साथ नरक में रहना भी सुखकर है। मनुष्य सच्चे अनुराग से विपत्ति को हँसते-हँसते झेल लेता है।

छठा अध्याय

अतिथि-सत्कार

अतिथि देवो भव ।

'अतिथींश्च लभेमहि', 'लभध्वम्' ।

अतिथि को देवतुल्य समझो ।

यजमान—हमें अतिथि मिलते रहें,

पुरोहित—(तुम्हें अतिथि) प्राप्त होते रहें ।

परिवार के बाहर जिन सद्गुणों का हमें प्रदर्शन करना चाहिए उनमें "अतिथि-सत्कार" सर्वप्रथम है । इस आतिथ्य की महत्ता कितनी उच्च है यह उस कहानी से स्पष्ट हो जाती है जो एक नेवले ने युधिष्ठिर से कही थी । महाराज युधिष्ठिर यज्ञ कर रहे थे । यज्ञमण्डप के स्तम्भ, तोरण आदि सभी सोने के बने थे । यज्ञ के पात्र भी स्वर्ण-निर्मित ही थे । उस यज्ञ में मनुष्य जितना चाहते थे उतना स्वर्ण और रत्न ले सकते थे । कोई रोक-टोक करने वाला न था । इतना अद्भुत था वह यज्ञ । इतने में एक नेवला उस यज्ञ-भूमि में उपस्थित हुआ । उसका आधा शरीर सोने का था । उसने कहा कि एक दरिद्र ब्राह्मण ने थोड़े से सत्तू के द्वारा अपने अतिथि का सत्कार कर जो महान् यज्ञ किया था उसकी तुलना में विपुल ऐश्वर्य द्वारा सम्पादित यह यज्ञ कुछ भी नहीं है । उसने इस प्रकार वह कथा कही :

एक उच्च-वृत्ति ब्राह्मण था । वह प्रतिदिन अनाज के खेत

में गिरे हुए दाने बटोरकर जीविका निर्वाह करता था। उसके घर में चार प्राणी थे—वह, उसकी स्त्री, पुत्र और पुत्र-वधू। चारों प्रतिदिन एक बार केवल अन्नाहार करके रह जाते थे। एक बार भयंकर अकाल पड़ा और देश उजाड़ हो गया। किसान लोग खलिहानों में बहुत कम अनाज के दाने छोड़ते थे। वह और उसके परिवार वाले भोजन के अभाव में दिन-पर-दिन क्षीण होते जाते थे। यहाँ तक कि सब जीवित अस्थिपंजर मात्र रह गये। एक दिन वह कहीं से थोड़े जौ बटोर लाया था। उसकी स्त्री ने उसका सत्तू बनाकर चार भाग किये, जिससे प्रत्येक को थोड़ा-बहुत मिल जाय। बड़े आनन्द से ये सब खाने को बैठे। परन्तु मुँह में कौर डालने के लिए उन्होंने हाथ बढ़ाया ही था कि एक अतिथि उनके दरवाजे पर आ खड़ा हुआ। ब्राह्मण शीघ्र उठा और अतिथि का सत्कार और स्वागत कर उसको अर्घ्य और आसन दिया। तब उसके अपने भाग में जो थोड़ा-सा भोजन आया था वह उसके सामने रख दिया। अतिथि वह सब खा गया। परन्तु भला इतने से उसकी तृप्ति कैसे होती। गृहिणी ने अपने भाग का भोजन उठाकर पति से कहा :

"यह भी अतिथि को दे दीजिये।"

उसने कहा :

"प्रिये, तुम मारे भूख के दुर्बल होने के कारण काँप रही हो। अतः तुम अपने भाग का भोजन स्वयं खा लो, नहीं तो मेरे घर का प्रकाश नष्ट हो जायगा।"

परन्तु गृहिणी ने कहा :

"अतिथि-सत्कार करना हमारा पहला धर्म है। अतः हम

को धर्म-विमुख न होना चाहिए। यह भोजन आप अवश्य अतिथि-देवता को दे दीजिए।"

दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए ब्राह्मण ने भोजन लेकर अतिथि को दे दिया। परन्तु इतने पर भी अतिथि तृप्त न हुआ। तब ब्राह्मण के लड़के की बारी आई। थोड़ा-बहुत जो कुछ उसे मिला था उसने वह सब अपने पिता के सामने रख दिया। ब्राह्मण के हृदय में अपने लड़के की क्षुधाजन्य दुर्बलता देखकर बड़ा ही कष्ट हुआ। तब भी उसने तीसरा भाग अतिथि के सामने रख ही दिया। परन्तु इससे भी अतिथि की क्षुधा शांत न हुई, क्योंकि प्रत्येक छोटा भाग क्षुधित अतिथि के लिए कुछ भी नहीं था। बहू ने भी अपना भाग अपने श्वसुर के कांपते हुए हाथों में रख दिया। परन्तु ब्राह्मण ने अत्यन्त दुःख से उसका भाग लेना अस्वीकार कर दिया। और कहा:

"नहीं, नहीं, बेटी, मैं तुम्हारा भाग कदापि नहीं दे सकता।"

उसने अत्यन्त विनीत भाव से मधुर शब्दों में उत्तर दिया:

"पिताजी, अपने इन सत्कर्मों की सहभागिनी होने से मुझे वंचित न कीजिये। अतिथि देवता है। इसलिए मेरा भाग भी उसको खिला दीजिये।"

ब्राह्मण ने खिन्न-चित्त से वह भोजन ले लिया और तब मुस्कराते हुए उसे अपने अतिथि के सामने रख दिया। अतिथि उसे भी खा गया। अतिथि के सामने से उठते ही चारों ओर प्रकाश फैल गया और उसी प्रभा के बीच में एक दिव्य तेजस्वी मूर्ति दिखलाई दी। अतिथि वास्तव में स्वयं धर्म के देवता धर्मराज थे। अतिथि के भोजन के बाद वहाँ दो-चार दाने छूट गये

थे। नेवला वहाँ आकर लोट-पोट होने लगा। उस यज्ञ के अद्भुत प्रभाव से नेवले का आधा शरीर सोने का हो गया। अतिथि-सत्कार में यह दिव्य गुण है, सर्वत्र ख्याति है। इसकी महती महिमा अमूल्य है।

× × ×

एक दुष्ट बहेलिया था। वह नित्य-प्रति निर्दोष पक्षियों को मारा करता था। उसका शरीर भी उसके कलुषित कर्मों के ही समान काला था। अपने शिकार के प्रति क्रोध से देखते रहने के कारण उसकी आँखें अंगारे की तरह लाल हो गयी थीं। एक दिन वह घने जंगलों में शिकार के लिए गया था। एकाएक एक भयंकर तूफान आ गया। क्षण भर में खुले मैदान पानी से भर जाने के कारण झील के समान दिखलाई दिये और मार्ग बहती हुई नदियों के रूप में बदल गये। किसी तरह बचकर वह एक उच्च-भूमि में जा पहुँचा। पर वहाँ भी रीछ, सिंह इत्यादि भयंकर वन्य हिंस्र पशुओं से उसका पीछा न छूटा। शीत के मारे वह ठिठुर रहा था, भय से काँप रहा था; परन्तु तब भी वह अपने क्रूर कर्मों से बाज न आया। एक कबूतरी वर्षा की झड़ी से आहत होने एवं शीत से ठिठुरने के कारण जमीन पर बेहोश पड़ी थी। बहेलिये की दृष्टि ज्योंही उस पर पड़ी त्योंही उसने निष्ठुर हाथों से उसको उठा लिया और अपनी झोली में डालकर उसे ले चला। भटकते-भटकते वह जंगल के मध्य में स्थित एक बड़े भारी पेड़ के नीचे आ पहुँचा। पेड़ की छाया बहुत दूर तक फैलकर पथिकों को सुख देती थी, और असंख्य पक्षी उसमें अपने घोंसले बनाकर रहते थे। यह जान पड़ता था कि मानों विधाता ने सब जन्तुओं के

लाभ के लिए ही उस पेड़ की सृष्टि की हो। वह वृक्ष संसार का हित करने वाले सज्जन पुरुष की भाँति वहाँ खड़ा था। व्याध ने पेड़ की फैली हुई शाखाओं के नीचे विश्राम किया। धीरे-धीरे बादल हटने लगे और तारे जगमगाने लगे। परन्तु व्याध अपने घर से बहुत दूर भटक गया था। अतः उसने उसी पेड़ के नीचे रात काटने की सोची। उस पेड़ के नीचे लेटे हुए उसने एक कबूतर को विलाप करते हुए सुना :

"हा प्रिये, तू अभी तक नहीं लौटी। न जाने तुझ पर क्या बीती ? हां, यदि सुन्दर नेत्रों वाली, सुमधुर गाने वाली और कोमल कलंगी वाली मेरी प्रियतमा घोंसले को लौटकर वापस न आवेगी तो मेरा जीवन भार हो जायगा। वास्तव में घर घर नहीं है, गृहिणी ही घर है। जब मैं खाता हूँ वह भी खाती है; जब मैं सांस लेता हूँ, वह भी सांस लेती है; मेरे आनन्द से आनन्दित होती है और मेरे दुःख से दुःखी होती है। परन्तु यदि मैं क्रुद्ध होता हूँ तो भी वह मधुर स्वर से ही बोलती है। ऐसे सहचरी के बिना राजमहल भी शून्य है। ऐसी गृहिणी विश्वस्त सहचरी है, प्रिय संगिनी है और पुण्य लाभ एवं आनन्द की सहभागिनी है। पत्नी अपने पति का अमूल्यतम रत्न है। वह जीवन के प्रत्येक कार्य में सहायिका है, वह सभी मानसिक रोगों को शान्त करने के लिए सबसे उत्तम औषधि है। स्त्री से बढ़कर कोई मित्र नहीं। स्त्री से बढ़कर कोई शरण नहीं।"

जब निष्ठुर बहेलिए के पिंजड़े में बन्द कबूतरी ने अपने पति का विलाप सुना तो उसने मन ही मन कहा :

"अहा, मेरे पति मुझे कितना प्यार करते हैं। अपने प्रति

उनके ऐसे विचारों को सुनकर इस दुःखमय अवस्था में भी मुझे अपार आनन्द हो रहा है। जिस स्त्री से उसका पति संतुष्ट नहीं है वह पत्नी कहलाने की अधिकारिणी नहीं है। परन्तु हमें इस बेचारे बहेलिए की भी सुध लेनी चाहिए। बेचारी इस भयंकर तूफान के कारण अपने घर से दूर रह गया है। अब वह हमारा मेहमान है क्योंकि उसने हमारे वास-स्थान के ही नीचे आश्रय ले लिया है।"

तब उसने जोर से चिल्लाकर अपने पति को उस व्याध की विपत्ति समझा दी। कबूतर तत्काल ही अपना दुःख भूल गया और व्याध के प्रति उसकी सहानुभूति उमड़ आयी। उसने व्याध से कहा :

"सम्माननीय अतिथि, मैं आपका स्वागत करता हूँ। कहिए, मैं आपकी कौन सेवा कर सकता हूँ ?"

बहेलिए ने कहा :

"मैं शीत से ठिठुर रहा हूँ, अगर तुम से हो सके तो मेरे आग तापने का सामान करो।"

पक्षी ने सूखी हुई पत्तियों का एक बड़ा ढेर इकट्ठा करके रख दिया। एक पत्ती उसने अपनी चोंच में दबा ली और एक पास के गाँव की ओर उड़ गया और शीघ्र ही उस पत्ते पर आग की एक छोटी-सी चिंगारी लेकर वापस आ गया। थोड़ी देर में कबूतर के प्रयत्न से व्याध आग के सामने बैठकर अपने को गर्म करने लगा।

पक्षी ने पूछा :

"मैं आपके और किस काम आ सकता हूँ ?"

व्याध ने इस बार भोजन माँगा। पक्षी ने सोचा :

"मेरे पास कोई भण्डार नही है जिससे मैं इसे तृप्त कर सकूँ। परन्तु क्षुधित अतिथि को बिना खिलाए विदा करना भी ठीक नहीं।"

सोचते-सोचते उसको एक बहुत अच्छी बात सूझ पड़ी और उसने अपने अतिथि से कहा :

"मैं तुम्हें सन्तुष्ट करूँगा। मैंने पूर्व काल में उन्नतमना ऋषियों, देवताओं और पितरो से सुना है कि अतिथि का सत्कार करने से बडा भारी पुण्य होता है। मित्र, कृपा करके मेरी इस तुच्छ सेवा को स्वीकार करो।"

यह कहकर उसने आग की तीन बार प्रदक्षिणा की और ज्वालाओ में गिरकर अपना शरीर अपने अतिथि के भोजन के लिए अर्पित कर दिया।

कबूतर के इस अनुपम आतिथ्य को देखकर व्याध का कलुषित हृदय भी उसके प्रति श्रद्धा से भर गया। अपने पिछले पाप-पुण्य का ध्यान आने से उसके मन में अज्ञात भय छा गया। उसका हृदय टूट गया और उसकी समस्त कलुषित भावनाएँ जड़-मूल से नष्ट हो गयीं। उसने कहा :

"मनस्वी पक्षी, तुम मेरे परम गुरु हो। तुमने मुझे अपना कर्त्तव्य सुझा दिया। आज से मैं अपने पापमय जीवन से हाथ खीचता हूँ। और जिस प्रकार सूर्य ग्रीष्म काल के प्रखर आतप से छोटे-से गन्दे तालाब को सुखा देता है उसी प्रकार इस पाप-पोषित शरीर को सुख-भोग से विरत कर निरन्तर उपवास तथा तीक्ष्ण तप से इसे सुखाकर अपने पापों का प्रायश्चित्त करता हूँ। इस प्रत्यक्ष आदर्श को ध्यान में रखकर आज से मैं धर्म-पथ पर ही चलूँगा।"

उसने अपनी गदा, पक्षियों को फँसाने के जाल और फंदे, लोहे का पिंजड़ा सब फेंक दिये और मृत-पक्षी की विधवा कबूतरी को भी छुटकारा दे दिया।

छुटकारा पाते ही कबूतरी ने अपने पति की चिता की प्रदक्षिणा की और रोते-रोते कहने लगी :

"स्त्री को अपने माता-पिता तथा सन्तति से सुख मिल सकता है वह सीमित होता है, परन्तु पति से उसे अनन्त सुख मिलता है। वह स्वयं अपना सर्वस्व ही नहीं, स्वयं अपने को ही, पत्नी को सौंप देता है। इतने वर्ष तक तुम्हारे साथ सुख से रहने के उपरान्त मैं अकेली नहीं रह सकती।"

ऐसा कह स्वयं भी आग में कूद पड़ी।

अपनी नवजात दिव्य दृष्टि के बल से व्याध ने देखा कि दोनों दिव्य स्वरूप धारण कर स्वर्गारोहण कर रहे हैं। इस दृश्य से उसका विचार और भी दृढ़ हो गया और वह जंगलों में रहकर अपना निष्पाप जीवन व्यतीत करने लगा। कठोर तप ने उसके समस्त पापों को दूर कर दिया। एक दिन ग्रीष्मऋतु में दो पेड़ों के परस्पर घर्षण से उस वन में आग लग गयी और वह उसी में भस्म हो गया।

आश्रितों के प्रति आचरण

ज्यों-ज्यों हम संसार में प्रविष्ट होते जाते हैं, त्यों-त्यों हम लोगों का सम्बन्ध ऐसे प्राणियों से बढ़ता जाता है जो हमारे ग्राश्रित होते हैं। उनमें से कुछ तो निम्न श्रेणी के पशु होते हैं; कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो या तो हम से कम शिक्षित होते हैं या अशिक्षित; कुछ हम से अवस्था में छोटे होते हैं अथवा हम से अगली पीढ़ी में होते हैं; कुछ आर्थिक दृष्टि से हीन होते हैं और कुछ एसे होते हैं जिनका स्थान समाज में हम से निम्न होता है अथवा जो किसी कारण विशेष से हम से निम्न कोटि में समझे जाते हैं। ऐसे लोगों से हमारा नित्य-प्रति व्यवहार होता है। अतएव उनसे एकता बनाये रखने के लिए हम को वे गुण जान लेने चाहिएं जिनके द्वारा उनसे हमारा सद्भाव बना रहे। और जिन दुर्गुणों से विरोध बढ़ने की संभावना हो उनसे बचना चाहिए।

वात्सल्य

इनमें सबसे प्रथम और स्पष्ट सम्बन्ध अपने छोटों से होता है। अपने छोटों के प्रति व्यवहार में किन गुणों का प्रदर्शन आवश्यक है यह माता-पिता का सन्तान के प्रति जो व्यवहार होता है उससे भली भाँति स्पष्ट हो जाता है। वत्सलता, करुणा, उदारता, कृपा आदि ऐसे गुण हैं जो स्नेह-शील माता-पिता में अवश्य होते हैं और इन गुणों के ही कारण

वे घर के वातावरण को सुखी बनाने में समर्थ होते हैं। माता-पिता अपनी सन्तान को प्यार करते हैं, उन पर विपत्ति आने ही स्वयं उनके लिए दुःख झेलते हैं, उनके आनन्द में आनन्द-मनाते हैं, उनके प्रत्येक कार्य से सहानुभूति रखते हैं।

एक प्राचीन आख्यान में इस बात को अत्यन्त हृदयस्पर्शी शैली में चित्रित किया है। अपनी सन्तान को विपत्तिग्रस्त देखकर सुरभि ने जो विलाप किया था वही इस कहानी का मार्मिक अंश है। बहुत समय बीत गया। एक बार गौ-वंश की आदि-जननी सुरभि देवराज इन्द्र के समक्ष रोती हुई उपस्थित हुई। इन्द्र ने अत्यन्त उत्सुकता से उससे पूछा :

"गो माता सुरभि, तुम क्यों रो रही हो? क्या तुम्हारा कोई अनिष्ट हो गया है?"

सुरभि ने कहा :

"मेरे शरीर का कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ है, परन्तु मैं अपनी सन्तान को विपत्ति में पड़ी देखकर इस प्रकार दुःख पा रही हूँ। त्रिभुवन-पति, देखिये, मेरा क्षीण-काय एवं अत्यंत कृश पुत्र दिन भर खेत जोतने के कारण थक गया है और अशक्त होने के कारण बार-बार गिर पड़ता है, परन्तु निष्ठुर कृषक इतने पर भी उसके ऊपर डण्डे बरसा रहा है। जोड़े में से जो बैल सबल है वह तो आसानी से जुए को कन्धे पर उठाए हुए है, परन्तु निर्बल बैल को उसके उठाने में बड़ा ही कष्ट होता है। उसी के शोक से मेरा हृदय विदीर्ण हो गया है और मेरी आँखों से आँसू बनकर बाहर निकल रहा है।"

इन्द्र ने बड़े आश्चर्य से पूछा :

"परन्तु तुम्हारे सैकड़ों बच्चों के साथ ऐसा व्यवहार आज

ही नहीं किन्तु सदैव होता रहता है।"

सुरभि ने उत्तर दिया :

"राजन् ! मैं इस प्रकार विपत्ति झेलने वाले सैकड़ों बच्चों में से प्रत्येक के लिए शोक कर रही हूँ ; परन्तु औरों की अपेक्षा जो निर्बल एवं असहाय हैं उनके प्रति मुझे अधिक करुणा आती है।"

इन्द्र ने सन्तान के दुःख में माता के हृदय की वेदना का अनुभव कर लिया और खेतों में खूब पानी बरसा दिया जिससे मनुष्यों एवं पशुओं दोनों को सुख हुआ।

रामायण में रामचन्द्र के प्रति राजा दशरथ के वात्सल्य का भी बड़ा ही सरस वर्णन है। अपने पुत्र के गुणों पर वे कितना मुग्ध होते हैं और उनके वनवास पर कितना शोक करते हैं। उनके उन शब्दों पर ध्यान दीजिए जो वे रामचन्द्र के यौवराज्याभिषेक का प्रस्ताव करते समय अपने मन्त्रियों और सामन्तों आदि से कहते हैं। प्रत्येक शब्द से स्नेह छलकता है। प्रत्येक वाक्य में उनका अभिमान दिखलाई पड़ता है। जब कैकेयी राजा दशरथ से वरदान प्राप्त कर राम के लिये वनवास माँगती है तब देखिये, राजा दशरथ किस प्रकार कैकेयी के सामने गिड़गिड़ाते हैं और उसके पैरों पर गिरकर कहते हैं :

"चाहे बिना सूर्य के विश्व रह सके पर राम के बिना मैं नहीं रह सकता। मैं तेरे पैरों पर अपना माथा टेकता हूँ, मुझ पर दया कर, मैं वृद्ध और मरणासन्न हूँ, मुझ पर तरस खा।"

उनका कथन इतना सत्य था कि जब श्री रामचन्द्र अपने पिता को छोड़कर चले गये तो राजा दशरथ का हृदय टूट गया और राम के वियोग को न सह सकने के कारण उनकी मृत्यु

हो गयी । लेकिन उस पुत्र को भी देखिये जब राम अपनी माता कौशल्या को अपने वनवास का समाचार सुनाते हैं । वे दुःख-कातर हो कह बैठती हैं .

"तुम नहीं जाने पाओगे । तुम्हारे बिना मैं घुट-घुटकर मर जाऊँगी । अथवा, यदि अपने पिता की आज्ञा का पालन करने के विचार से तुम वन जाने के लिए ही सन्नद्ध हो तो मैं भी तुम्हारे साथ-साथ वन को चलूँगी । मेरे प्यारे लाल, जैसे गाय अपने बछड़े के पीछे दौड़ी जाती है वैसे ही जहाँ-कहीं तुम जाओगे मैं भी तुम्हारे साथ चली आऊँगी ।"

दुर्योधन के साथ जुआ खेलने में पाण्डव अपना सर्वस्व हार गये और उनको वनवास भी स्वीकार करना पड़ा । उस समय कुन्ती का विलाप भी बड़ा ही करुण है । कुन्ती को हम स्त्रियों एवं माताओं में सबसे वीर मानते हैं । जब युद्ध ठन गया तो उन्होंने श्रीकृष्ण के द्वारा अपने पुत्रों को यह सन्देशा कहलाया :

"पुत्रो, यह समय आ गया है जिसके लिए क्षत्रिय माता अपने पुत्र को जन्म देती है । सम्मान के लिए, यश के लिए, प्राणों को भी त्याग देना पड़े तो परवाह नहीं ।"

यह वही कुन्ती थी जिनका हृदय अपने पुत्रों के वनवास के समाचार को सुनकर टूट गया था । वे रोने लगीं । उनको अपने पुत्रों का अनुसरण करने से रोकना कठिन हो गया । यह बड़ा ही दिल दहलाने वाला दृश्य था ।

अपने वीर-पुत्र अभिमन्यु की मृत्यु पर अर्जुन का विलाप भी हृदय-द्रावक है । जब वे युद्ध-क्षेत्र से शिविर को लौटते हैं तो किसी अज्ञात कारण से उनका चित्त खिन्न हो उठता है, उनको किसी वस्तु का अभाव-सा प्रतीत होता है । वे श्रीकृष्ण से इसका

कारण पूछते हैं। अत्यन्त उत्सुकता से वे अपने भाइयों से भी पूछते हैं। परन्तु उन सबको कारण बतलाते हुए भय मालूम होता है। शोक-समाचार उनको सुनाया जाता है, और उनके हृदय में पुत्र के अभाव से असीम वेदना होती है। उनके चित्त में बड़ी ठेस लगती है। वे सोचते हैं कि जब शत्रुओं ने उसे चारों ओर से घेर लिया था तो वीर अभिमन्यु ने अवश्यमेव यही सोचा होगा कि मेरे पिता आकर मुझे चक्रव्यूह से अवश्य छुड़ाएँगे। परन्तु मैं उसका अभागा पिता उसकी सहायता न कर सका। इस अचानक वज्रपात से वे मूर्छित होकर गिर पड़ते हैं। 'मैं अपने पुत्र की रक्षा न कर सका' इस विचार से अर्जुन उन्मत्त हो गये; क्योंकि वीरात्मा की सदैव यही आकांक्षा रहती है कि वह निर्बलों की रक्षा करे। परन्तु यदि वीर पुरुष पिता हो और निर्बल व्यक्ति उसका वात्सल्य-भाजन पुत्र हो तब तो उसका कहना ही क्या।

शरणागत-रक्षा

दुर्बलों की रक्षा करना प्रत्येक धर्मात्मा राजा का कर्त्तव्य है। जब राजा अपने इस कर्त्तव्य का पालन समुचित रूप से करता है तभी उसकी प्रजा भी राज-भक्त होती है।

भीष्म पितामह कहते हैं :

"प्रजा-रक्षण राज-धर्म का सार है। जिस प्रकार माता अपनी कोख से उत्पन्न हुए बालक का पालन-पोषण करती है उसी प्रकार राजा को भी प्रजा का भरण-पोषण करना चाहिए। जिस प्रकार माता अपनी अति अभीष्ट वस्तुओं की उपेक्षा करके एकमात्र अपने शिशु की हित-कामना करती है

ठीक उसी प्रकार राजाओं को भी अपने को एकदम प्र
के लिए अर्पण कर देना चाहिए।"

प्रजा-रक्षण का कर्त्तव्य बड़ा कठोर है। असमंजस
सगर का ज्येष्ठ पुत्र था। वह अपनी प्रजा के छोटे-छोटे
को लेकर बड़ी निर्दयता से नदी में डुबा देता था। तमाम
में त्राहि-त्राहि मच गयी। प्रजा के ऊपर अपने ही पुत्र
अत्याचार राजा सगर से न देखा गया। अपने कर्त्तव्
पालन करने के लिए उन्हें अपने हृदय को कड़ा कर, जे
को घर से निकाल देना पड़ा।

एसी अनेक कथाएँ हैं जिनमें धर्मात्मा राजाओं ने
शरण में आए हुए दुर्बलों की जी-जान से रक्षा की है।
शरणागत मनुष्य ही नहीं किन्तु शरण में आए हुए पशु-प
की रक्षा करना भी मानव का कर्त्तव्य है। युधिष्ठिर
हिमालय पर्वत में गलने के लिए गये तो हस्तिनापुर से ही
कुत्ता उनके पीछे लग गया। अनेक दुर्गम पर्वतों, विस्तृत
स्थलों आदि को उसने युधिष्ठिर के साथ बड़ी कठिनाइयों
पार किया। चारों पाण्डव और द्रौपदी तो मार्ग में ही
को प्राप्त हो गये; परन्तु कुत्ता अन्त तक राजा के साथ
रहा। इन्द्र युधिष्ठिर को स्वर्ग ले जाने के लिए आकाश
नीचे उतर आए और युधिष्ठिर से विमान में चढ़कर स्वर्ग
चलने का अनुरोध किया। राजा ने झुककर बड़ी नम्रता
अपने अनुचर विश्वस्त पशु के मस्तक का स्पर्श किया,
कहा :

"हे भूत और वर्तमान के प्रभु इन्द्र! यह कुत्ता मेरा

भक्त है। इसे भी स्वर्ग ले चलिये। मुझे भू-लोक के इस पशु बेचारे पर बड़ी दया आती है।"

इन्द्र ने प्रत्युत्तर दिया :

"परन्तु कोई भी कुत्ता स्वर्ग-लोक को जाने का अधिकारी नहीं है। राजन्, तुमने अपने सत्कर्मों से अमरता, मेरे ही समान एक राज्य, सम्पूर्ण समृद्धि, परम अभ्युदय और स्वर्ग के समस्त सुखों को प्राप्त कर लिया है। यह कुत्ता तुम्हारे स्वर्ग-गमन में बाधक है, अतएव छोड़ो इस कुत्ते को। इस काम के लिए कोई तुम पर निष्ठुरता का दोषारोपण नही कर सकता। क्योंकि वह तो अपने कार्यों के अनुसार भू-लोक में रहने के लिए बाध्य है।"

युधिष्ठिर ने कहा :

"हे न्यायशील, सहस्रनेत्र इन्द्र, कोई भी आर्य अनार्योचित कार्य नही कर सकता। मैं अपने शरणागत और भक्त का तिरस्कार करके स्वर्गीय आनन्द मोल लेना नही चाहता।"

इन्द्र ने कठोरता से कहा :

"स्वर्ग में उन व्यक्तियों के लिए कोई स्थान नहीं है जो अपने साथ कुत्तों को भी लाते हैं। इस कुत्ते को छोड़ो और मेरे साथ आओ। समय बीता जा रहा है, जल्दी करो।"

युधिष्ठिर ने कहा :

"पण्डित लोग कहते हैं कि भक्त का त्याग करना बड़ा भारी पाप है। दुर्बल शरणागत का त्याग उतना ही भयंकर पाप है जितना कि एक ब्राह्मण की हत्या करने से लगता है। हे शक्तिशाली इन्द्रदेव, मैं स्वर्गीय आनन्द की प्राप्ति के लिए अपने भक्त कुत्ते का परित्याग नहीं कर सकता।"

"मैं सिवा कबूतर के कुछ नहीं चाहता हूँ, परन्तु यदि तुम दूसरा ही पदार्थ देना चाहते हो तो अपने ही शरीर का मांस दो।"

अपने प्रिय स्वामी राजा शिवि के अमूल्य जीवन का नाश चाहने वाले बाज पर मन्त्रियों को बहुत क्रोध आ गया, और वे उसके कथन का विरोध कर उसको मार डालने पर उतारू हो गये। एक साधारण जीव का इतना साहस, परन्तु राजा शिवि ने कहा :

"मैं सम्राट् हूँ। अतएव अमुक छोटा है, अमुक बड़ा है, अमुक कबूतर है, अमुक बाज है, अमुक का न्याय करना चाहिए, अमुक का नहीं, इन साधारण बातों का विचार करने के लिए सिंहासन पर नहीं बैठा हूँ। मुझे धर्म का मूर्तिमान रूप होकर अपनी प्रजा के सामने आदर्श बनना चाहिए। यदि मैं साधारण अवसरों पर अपने धर्म से च्युत हो जाऊंगा, तो महत्त्वपूर्ण अवसरों पर कैसे सफलता पा सकूंगा। मेरी प्रजा भी मेरा अनुकरण करेगी और अपने अवसर से चूककर कर्त्तव्य-पालन से विमुख हो जायगी। एक तराजू ले आओ।"

दुःख से अत्यन्त कातर किन्तु उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने में असमर्थ मन्त्री उस बाज के प्रति क्रोध से दाँत पीसते हुए तराजू ले आये। अपने एक हाथ से बड़ी कोमलता से पकड़कर राजा ने कबूतर को तराजू के एक पलड़े में रखा और दूसरे हाथ से मजबूती से तलवार पकड़कर अपने शरीर का मांस नोच-नोचकर तराजू के दूसरे पलड़े में रखने लगा। परन्तु कबूतर बहुत भारी था। राजा ने फिर दूसरा टुकड़ा काटा। परन्तु कबूतर तब भी भारी था। अन्त में राजा स्वयं

तराजू पर बैठ गया। परन्तु इतने में ही क्या देखता है कि कबूतर और बाज दोनों अन्तर्धान हो गये हैं और उनके स्थान पर अग्नि और इन्द्र विराजमान हैं। उन दोनों ने कहा :

"तुम सच्चे राजा हो और राजा के सर्वप्रथम कर्त्तव्य प्रजा-रक्षण को अच्छी तरह जानते हो। हमने तुम्हारी जितनी प्रशंसा सुनी थी तुम्हें उससे बढ़कर पाया। तुम अपनी प्रजा के हृदय में चिरकाल तक निवास करो।"

राजा लोग सदा से दुर्बलों के रक्षक माने जाते हैं। इसी कारण ये सब कथायें राजाओं से ही सम्बन्ध रखती हैं। किन्तु बालक भी अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार, अपने से दुर्बलों की रक्षा कर सकते हैं। इन सब कथाओं को कहने का उद्देश्य यह है कि अपने जीवन में उनका अनुसरण करें। उनमें वर्णित गुणों को ग्रहण करें।

दयालुता

रन्तिदेव के समान दयालु राजा होना दुर्लभ है। एक समय वह और उनके अनुचर ४८ दिन तक बिना भोजन किये रहे। ४९वें दिन प्रातःकाल के समय उन्हें कुछ घी, दूध, जौ और जल प्राप्त हुआ अपने अनुचरों के साथ वे इस अल्पाहार को खाने के लिए बैठे ही थे कि उसी समय एक ब्राह्मण अतिथि स्वरूप वहाँ आ पहुँचा। राजा ने पहले उसको सन्तोष के साथ भोजन कराकर विदा कर दिया। शेष बचे हुए सामान को तुल्य भागों में बाँटकर अनुचरों सहित भोजन करने को बैठे। इतने ही में एक भूखा शूद्र वहाँ आ पहुँचा। उन्होंने उसको भी भोजन का कुछ भाग दिया। शूद्र के प्रसन्नचित्त से चले जाने पर राजा भोजन करने को बैठे। इतने ही में कितने ही भूखे कुत्तों को साथ

से घिरे हुए और एक भूखा कुत्ता वहाँ आ पहुँचा। उस समय राजा ने अपना बचा-बचाया भोजन भी उसको दे दिया। वह भी प्रसन्न होकर चला गया। तब रन्तिदेव ने देखा कि बहुत थोड़ा सा जल बच रहा है। और विचार रहे थे कि उसको ही पीकर अपनी प्यास को शान्त कर लूँगा। इतने ही में उनके कानों में यह शब्द पहुँचा कि मानो कोई कातर-स्वर से कह रहा है कि जल दो, एक बूँद जल दो। राजा ने ऊपर आँख उठाकर देखा कि एक चाण्डाल का कण्ठ प्यास से सूखा हुआ है और वह भूमि पर पड़ा है। राजा रन्तिदेव ने कातर भाव से उसके पास पहुँचकर बड़े यत्न से उसका सिर ऊपर को उठाया और अपना जल देकर उससे कहने लगे: 'पी भाई!"

रन्तिदेव के इस मधुर वाक्य से ही उसकी आधी प्यास शान्त हो गयी। जब चाण्डाल जल पीकर तृप्त हो गया तब रन्तिदेव ने हाथ जोड़कर भगवान् से प्रार्थना की :

"हे दयामय ! मैं अष्टसिद्धि नहीं चाहता, निर्वाण-पद भी मैं नहीं माँगता, मैं यही चाहता हूँ कि सकल जीवों के दुःखों से कातर होकर उनके नेत्रों का जल पोंछ सकूँ। वे सब प्रसन्न होकर स्वच्छन्द चले गये। इन तृष्णार्तों की तृष्णा को दूर करने से भूख-प्यास आदि मेरे शरीर के सब दुःख दूर हो गये।"

राजा रन्तिदेव की इस प्रार्थना से दयालुता का कितना पता मिलता है।

क्षमा

दूसरे के अपराधों को क्षमा करने की तत्परता सुशीलता का आवश्यक अंग है। श्री रामचन्द्र के बारे में कहा जाता है कि यदि कोई उनके प्रति सैंकड़ों अपराध भी कर दे तो वे तुरन्त

उस व्यक्ति को क्षमा कर देते और उन अपराधों को मन में स्थान तक न देते। यदि उनका कोई एक भी उपकार करता तो उसे कभी न भूलते। तुलसीदास ने अपनी 'विनयपत्रिका' के एक पद में राम की क्षमा और सहनशीलता का बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा है। राम का चन्द्रमुख कभी भी क्रोध-युक्त नहीं देखा गया। शिवजी का धनुष तोड़कर राम ने सब राजाओं का मान-मर्दन किया। इस पर परशुरामजी रामचन्द्रजी पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए। किन्तु राम ने उनका अपराध ही क्षमा नहीं किया बल्कि उनसे अपना अपराध क्षमा कराकर उनके चरण पकड़ लिये। वनवास देने वाली माता कैकेयी को वे सदा मनुहार करते रहे, उसका अपराध कभी मन में भी नहीं लाये। सुग्रीव और विभीषण दोनों ने राज्य की लालसा से राम का साथ दिया। राम के प्रति दोनों का प्रेम निष्काम, निःस्वार्थ, नहीं कहा जा सकता। तथापि राम भरे दरबार में उनकी सराहना करते भी तृप्त न हो सके।[1]

विदुर ने किस प्रकार अपने अपमान को भुलाकर धृतराष्ट्र को क्षमा कर दिया था, यह कथा भी सुनने योग्य है :

राजा धृतराष्ट्र का पुत्र दुर्योधन अत्यन्त दुःशील था। उस

---

१. सुनि सीतापति सील सुभाउ।

× × ×

सिसुपन तें पितुमातु बन्धु गुरु सेवक सचिव सखाउ।
कहत राम-विधु-बदन रिसौंहैं सपनेहु लख्यो न काउ॥

× × ×

भव-धनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गए ताउ।
छमि अपराध छमाइ पायँ परि इतौ न अनत समाउ॥

को सुमार्ग पर लाने के लिए उन्होंने अपने भाई विदुर से परामर्श किया। विदुर ने अत्यन्त बुद्धिमत्ता और दृढ़ता से अपने बड़े भाई को एक अत्युत्तम सलाह दी और निवेदन किया :

"आप दुर्योधन को इस बात के लिए बाध्य करें कि वह अपने चचेरे भाई पांडवों के साथ शान्तिपूर्ण कर्त्तव्य पालन करें और पीड़ितों एवं वनवासी राजकुमारों से अपने और अपने सहायकों के अपराध के लिए क्षमा माँगें।"

इस पर धृतराष्ट्र बहुत बिगड़ उठे और अपने न्यायशील भाई विदुर को उन्होंने बुरा-भला कहा। उन पर पक्षपात और राज-विद्रोह का अपराध लगाकर क्रोध में भरे हुए धृतराष्ट्र अपने भाई का घोर अपमान करते हुए वहाँ से हट गये। विदुर उदास होकर पाण्डवों के पास चले गये। और जिस प्रकार क्रुद्ध होकर धृतराष्ट्र ने अपमानपूर्वक उनको निकाल दिया वह सब कह सुनाया। विदुर ने पाण्डवों को बुद्धिमत्ता, शिष्टता, सुशीलता एवं भलमनसाहत से काम करने का उपदेश दिया। उधर विदुर के चले जाने पर धृतराष्ट्र अपने कठोर व्यवहार एवं अन्याय के कारण बहुत पश्चात्ताप करने लगे और संजय को उन्हें वापस लौटा लाने के लिए भेजते हुए कहा :

"संजय, जाओ और देखो, मेरा भाई जीवित तो है। मैंने क्रोध से उन्मत्त होकर उसे निकाल दिया है। उसने कभी आज

कबके राज बन दियो नारि बस गरि गलानि गयो राउ।
ता कुमात को मनु जुगवत ज्यों निज तनु मरम कुघाउ॥
×   ×   ×
अपनाए सुग्रीव विभीषन तिन न तज्यो छल-छाउ।
भरत-सभा सनमानि सराहत होत न हृदय अघाउ॥

तक मुझ से कोई बुरा व्यवहार नहीं किया, न कभी कोई अपराध ही किया; परन्तु आज मैंने उसके साथ बड़ा ही दुर्व्यवहार कर उसका हृदय दुखाया है। बुद्धिमान् संजय, जाओ और मेरे प्यारे भाई को खोज लाओ।"

संजय मार्ग में यह सोचते हुए गये कि शांतमूर्ति, साथ ही प्रबल पराक्रमी, विदुर अपने चंचलचित्त भाई की परिवर्तन-शील मनोवृत्ति को क्षमा करके पुनः उसके राज्यसिंहासन के स्तम्भ बनेंगे या नहीं। उसने विदुर को वन में पाया, वहाँ पांडव तथा अन्य लोग भी उनकी बड़ी प्रतिष्ठा करते थे। संजय उनके पास गये और लौट चलने की प्रार्थना की। विदुर तुरन्त ही बिना कुछ आगा-पीछा सोचे उठ खड़े हुए और अपने भतीजों से विदा लेकर शीघ्र अपने ज्येष्ठ भ्राता के सामने उपस्थित हुए। धृतराष्ट्र ने अपने कटु-व्यवहार के लिए क्षमा माँगी। विदुर ने नम्रता से कहा :

"राजन्, मैंने आपको क्षमा कर दिया है। आप मेरे ज्येष्ठ हैं, श्रेष्ठ हैं, मेरे परम पूजनीय हैं। मैं आपके दर्शनों की अभिलाषा से बड़ी उत्सुकता से आपके पास आया हूँ। यदि आप यह समझें कि मैं पाण्डवों का पक्ष लेता हूँ तो यह कुछ अनुचित एवं अस्वाभाविक नहीं है, क्योंकि विपत्तिग्रस्त लोगों को देखकर मेरा हृदय स्वभावतः उनकी ओर दयालु हो जाता है। इसमें कारण उतना आवश्यक नहीं जितने हृदय के भाव। राजन्, आपके पुत्र भी मुझे उतने ही प्यारे हैं। परन्तु उनको दुःख में पड़ा देखकर मेरा हृदय द्रवीभूत हो जाता है।"

इस प्रकार कनिष्ठ भ्राता विदुर ने अपनी सुशीलता एवं उदारता से धृतराष्ट्र के द्वारा प्राप्त अपमान को अनावश्यक

समझकर चित्त से भुला दिया और उन्हें क्षमा कर दिया।

"क्षमा ही सत्य है, क्षमा ही भूत और भविष्य का आधार है, क्षमा ही तप है, क्षमा ही पवित्रता है, और क्षमा ही इस जगत् का भार धारण किये हुए है।"[1]

शिष्टता

शिष्टता चिरंतन काल से भारतीय आदर्श का एक विशेष गुण रहा है। हम अपने महाकाव्यों में पढ़ते हैं कि सभी बड़े लोग, चाहे उनका स्वभाव अच्छा रहा हो या बुरा, अपने अतिथियों, मित्रों एवं शत्रुओं तक के साथ समान रूप से मनसा, वाचा, कर्मणा शिष्टाचार प्रदर्शित करते थे। रामचन्द्रजी बड़े मिष्टभाषी थे और वार्तालाप करने के पहले वे अपनी मन्द मुस्कान द्वारा श्रोताओं को मुग्ध कर लेते थे।

एक बार सम्पत्ति की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मीजी दानवों के हित को ध्यान में रखते हुए अत्यन्त मीठे स्वर से और क्षमाशीलतापूर्वक दानवों से बोलीं :

"मैं आज तक आप लोगों के साथ आप लोगों के सद्गुणों के वशीभूत होकर रही। परन्तु ज्यों ही सद्गुणों का स्थान क्रोध, निर्दयता, दुःशीलता आदि अवगुणों ने ग्रहण कर लिया त्यों ही मैं भी आशा, विश्वास, बुद्धि, सन्तोष, विजय, अभ्युदय, क्षमा आदि गुणों के साथ आप लोगों को छोड़कर चली।"

इसी प्रकार नारदजी के बारे में भी कहा जाता है कि वे मिष्टभाषी थे। उनका हृदय उदार था। वे सरल-हृदय

[1] ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च।
तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत्॥—महाभारत

एवं क्रोध-लोभ से रहित थे। यही कारण था कि सब नारद को चाहते थे ग्रौर सर्वत्र उनके प्रति सम्मान प्रकट किया जाता था।

भीष्म यह उपदेश देते हैं

"हमें कभी किसी को तुच्छता की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए, न किसी के प्रति बुरे विचार या कटु वचनों का ही प्रयोग करना चाहिए। किसी को हानि पहुँचाना ग्रथवा किसी के प्रति वैर-भाव रखना ग्रशिष्टता है। यदि कोई ग्रापकी निन्दा करता हो या ग्रापको बुरा-भला कहता हो तो ग्राप उस ग्रोर ध्यान ही मत दीजिए। यदि कोई ग्रापको क्रुद्ध करने का प्रयत्न करता हो तो भी ग्राप उससे प्रेम से बोलिये। यदि कोई ग्रापको कलंक लगावे तो बदले में ग्राप भी उसे कलंक मत लगाइये।"

एक पद्म नामक नाग था। वह कर्म, ज्ञान ग्रौर उपासना तीनों मार्गों पर चलता था। उसके बारे में नारद कहते हैं कि वह बड़ा ग्रतिथिपूजक एवं क्षमाशील था ग्रौर हानि पहुँचाकर किसी के दिल को न दुखाता था। वह सत्यवादी, मिष्टभाषी, द्वेष-रहित एवं सबका हितेच्छु था। एक ब्राह्मण उसके दर्शन करने तथा उससे कुछ ज्ञान प्राप्त करने के लिए वहाँ ग्राया। पर उसके घर पहुँचने पर उसने उसको ग्रनुपस्थित पाया। उसकी स्त्री ने उस ग्रपरिचित ग्रतिथि का पूर्ण सत्कार किया। ग्रतिथि ने थोड़ी देर तक उस स्त्री से शिष्ट भाषण किया। तदनन्तर वह उसको छोड़कर नदी तट पर चला गया ग्रौर उसके प्रत्यागमन की प्रतीक्षा करने लगा। जब तक वह प्रतीक्षा करता रहा तब तक उसने कुछ नहीं खाया। फलतः

नाग के नातेदारों ने भी कुछ नहीं खाया। वे सब मन में बड़े दुःखित होकर उसके पास गये और उन्होंने निवेदन किया :

"आपका सत्कार करना हम सब का परम कर्त्तव्य है। आपका उपवास हम लोगों को बहुत ही दुःखित कर रहा है, आपके न खाने से हम अपने कर्त्तव्यों से पराङ्मुख हो रहे हैं। इससे बाल, वृद्ध, युवा सारा समाज कष्ट पा रहा है।"

ब्राह्मण ने अत्यन्त नम्रता से कहा :

"आपकी शुभ कामनाओं से मैं तृप्त हो गया हूँ। किन्तु मैं नागराज के लौटने तक नहीं खा सकता।"

तत्काल नागराज वहाँ आ पहुँचे। उस समय उसका और उसकी पत्नी का जो परस्पर सम्भाषण हुआ उसमें गृहस्थ के कर्त्तव्यों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। सबका भला करना और अभ्यागत का पूर्ण सम्मान करना गृहस्थ का धर्म है। गृहस्थ को विनीत, क्रोध-हीन, निरभिमान, उदार एवं सत्यवादी होना चाहिए। इस प्रकार अति प्राचीन काल में अपने पास-पड़ोस में रहने वालों को नागरिकता के कर्त्तव्य सिखलाए जाते थे।

आचरण का प्रभाव

यहाँ तक हमने अनेक गुणों और दोषों का—पुण्यों और पापों का—पृथक्-पृथक् विवेचन किया है और अनेक दृष्टान्तों द्वारा यह बात भी प्रमाणित की है कि सत्कार्यों से अन्त में सुख प्राप्त होता है और असत्कार्य दुःख के कारण होते हैं। अब हम यह बतलाना चाहते हैं कि किस प्रकार एक सत्कार्य या पुण्य दूसरे को भी सत्कार्य या पुण्य के लिए प्रेरित कर उसे गुणवान बना देता है और एक दुष्कार्य या पाप दूसरे को दुष्टता के लिए प्रेरित कर उसे पाप का भागी बना देता है। यह जान लेने पर हम दूसरों को मनसा-वाचा-कर्मणा सद्विचारों और सत्कार्यों में लगाकर उसकी सुख, शांति और समृद्धि में सहायक हो सकेंगे। दूसरों के प्रति प्रेम-भाव रखकर हम उनके हृदय में भी प्रेम-भाव जागृत कर सकते हैं। इसके विपरीत दूसरों के प्रति घृणा कर हम उनके हृदय में भी अपने लिए घृणा का ही बीज बोते हैं। हम किसी को जिस भाव से चाहते हैं उस व्यक्ति का भी हमारे ऊपर वैसा ही भाव उत्पन्न हो जाता है। क्रोधी मनुष्य को देखकर उसके पड़ोसियों के मन में भी क्रोध उत्पन्न हो जाता है। परस्पर के इस क्रोध से कलह उत्पन्न हो जाता है और कटुता बढ़ते-बढ़ते क्रोध वैर में परिणत हो जाता है। क्रोध से उत्तेजित होकर बोलने पर उत्तर भी क्रोध में ही मिलेगा, और प्रत्युत्तर में क्रोध की कटुता तीव्रतर होती जायगी। इसके ठीक विपरीत नम्रता

ौर मीठी वाणी से बोलने पर उत्तर भी नम्रता और मधुरता
साथ मिलेगा। इसी प्रकार दया के व्यवहार से दूसरों में
या की वृत्ति जागृत की जा सकती है और दूसरों के प्रति
िया हुआ सत्कार्य दूसरों को भी सत्कार्य के लिए प्रेरित करता है।

इस सिद्धान्त को ठीक-ठीक समझ लेने पर कोई भी
्यक्ति दूसरों के साथ दुर्व्यवहार के बदले दुर्व्यवहार नहीं
रेगा और अपनी सद्भावनाओं के सदुपयोग से दूसरों की
र्भावना का प्रतिकार कर सकेगा। यदि कोई अत्यन्त क्रोध
 बोलता है तो हमें भी उसी प्रकार क्रुद्ध होकर मुँहतोड़
त्तर देने की इच्छा होती है। परन्तु यदि उस समय हम
पने आवेश पर संयम रखकर उसके क्रोध का उत्तर विनम्रता
ौर मधुरता से दें तो हमारे मधुर व्यवहार से उसका आवेश
ान्त हो जायगा और उसका क्रोध कम हो जायगा।

"जो क्रोध करने वाले के प्रति क्रोध नहीं करता वह
ोनों का चिकित्सक है—वह क्रोध रूपी भीषण आपत्ति से
पनी भी रक्षा करता है और दूसरों की भी।"[१]

"अपने पर क्रोध करने वाले के प्रति क्रोध मत करो।
ोई आपसे कठोर वाणी से बोले तो नम्रता से उसकी कुशल-
ार्ता पूछो।"[२]

"जो बलवान पुरुष परुष वचन बोलने पर भी, ताड़ना
ने पर भी, अपने क्रोध को जीतकर क्षमा करने में समर्थ

---

१. आत्मानं च परांश्चैव त्रायते महतो भयात्।
क्रुध्यन्तमप्रतिक्रुध्यन्द्वयोरेव चिकित्सकः॥—महा० वन०

२. क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।—मनु० ६-४८

होता है वही विद्वान् है और उसी की गणना उत्तम पुरुषों में की जाती है।"[1]

अतः जो तुम्हारा अहित चाहे उसका हित करो और जो तुम्हारे साथ बुरा व्यवहार करे उसके साथ भला व्यवहार करो। इस प्रकार व्यवहार करने से ही तुम समाज की शान्ति को सुरक्षित कर सब को सुखी बना सकते हो। कबीर कहते हैं :

"जो तोकूं कांटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल।"

कौरवों ने पाण्डवों को छल से जुए में जीत लिया, द्रौपदी को अपमानित किया अन्त में उनको वनवास दे दिया। वनवास के कष्टों से पीड़ित द्रौपदी ने युधिष्ठिर को कौरवों पर आक्रमण करने के लिए उत्तेजित किया। इस पर धैर्यवान् युधिष्ठिर ने द्रौपदी को समझाया कि दुष्टता का प्रतिशोध दुष्ट कार्यों से लेने का परिणाम कभी हितकर नहीं हो सकता। दुष्टता के बदले दुष्टता की परम्परा निरन्तर अमंगल की ही सृष्टि करने में समर्थ हो सकेगी। ज्ञानी पुरुष दूसरे के दुष्ट व्यवहार से उत्तेजित किये जाने पर भी उसको सह जाता है, उसके साथ कैसा भी दुर्व्यवहार किया जाय उसे क्रोध नहीं आता। अपने को कष्ट देने वाले की उपेक्षा करने के कारण वे परलोक में भी सुख पाते हैं। ज्ञानी पुरुष, चाहे दुर्बल हो या बलवान, अपने को पीड़ा पहुँचाने वालों को सदा क्षमा करता है। यही नहीं, यदि उसे कष्ट पहुँचाने वाले पर कोई विपत्ति आ पड़ती है तो उसकी रक्षा करता है। वह अपने अपकारी का भी

१. आक्रुष्टस्ताडितः क्रुद्धः क्षमते यो बलीयसः।
यश्च नित्यं जितक्रोधो विद्वानुत्तम पुरुषः॥

उपकार करता है। यदि मनुष्यों में कोई पृथ्वी के समान क्षमा-शील पुरुष न हों तो मनुष्य-समाज में कभी शांति नहीं रह सकती। झगड़े का कारण ही क्रोध है । यदि अनिष्ट के बदले अनिष्ट और प्रहार के बदले प्रहार किया जाय, अथवा गुरुजनों से दण्ड पाने पर बदले में गुरुजनों को दण्ड दिया जाय तो परिणाम होगा प्राणिमात्र का विनाश और पाप के साम्राज्य का प्रसार। जब कटु वचनों का प्रत्युत्तर कटु वचनों में ही दिया जाने लगेगा, अथवा आघात के बदले आघात या हिंसा के बदले हिंसा ही होने लगेगी तो पिता पुत्र की, पुत्र पिता की और पति भार्या की, भार्या पति की हत्या करने लगेंगे। तब तो ऐसी क्रोध भरी पृथ्वी पर जीवों की उत्पत्ति ही असम्भव हो जाय—क्योंकि शांति के बिना जीवों की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती।

राजा दशरथ ने किस प्रकार शान्त-भाव से पत्नी कौशल्या के क्रोध को शान्त किया था, वह भी ध्यान देने योग्य है। रूप-गुण-शील-सम्पन्न पुत्र राम को राज्य देने को कहा गया और मिला वनवास । अपने सुकुमार पुत्र के वनवास के कष्टों का अनुमान कर माता कौशल्या अत्यन्त दुःखित हुईं और क्रोध के आवेश में दशरथ से उन्होंने कहा :

"आप अपने निरपराध पुत्र को वनवास देकर अपने हाथों से उसकी हत्या कर रहे हैं। आपके पुरखा जिस सनातन-मार्ग की इतने प्रयत्नों से रक्षा करते चले आये थे आप राम को निर्वासित कर उस नीति-मार्ग का अच्छा अनुसरण कर रहे हैं। स्त्रियों का पहला आश्रय पति है, दूसरा पुत्र और तीसरे कुटुम्बी जन। तुमने—पति ने—मुझे त्याग दिया है। पुत्र राम भी मुझ से बिछुड़ रहे हैं और मैं आपको छोड़कर राम के पास भी

नहीं जा सकती। इस प्रकार आपने मुझे कहीं का भी नहीं रखा। मेरे साथ-साथ राज्य के भी दिन बिगड़ गये और प्रजा को आपने कष्ट पहुँचाया है।"

कौशल्या के कठोर वचन सुनकर राजा ने दुःख के भार से अपना सिर नीचे को कर दिया। उनका चित्त घबड़ा गया और वे मूर्छित हो गये। सुध आने पर उन्होंने कौशल्या को अपने ही समीप खड़ा पाया। उसी समय उनको अपने अतीत दुष्कर्म की स्मृति हो आयी। अपने अनजान मे श्रवण का वध कर वे उसके माता-पिता के दुःख के कारण बने थे। और आज उसी पाप-कर्म का परिणाम उनके सामने था। एक ओर था यह पाप और दूसरी ओर था पुत्र के विरह का सन्ताप। इन दोनों कष्टों से दग्ध राजा दशरथ, कौशल्या के सामने हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर काँपते हुए बोले :

"कौशल्ये ! मुझे क्षमा कर। मैं हाथ जोड़कर तुझ से भिक्षा माँगता हूँ—मुझे क्षमा कर दे। तुम तो सदा परायो तक के लिए क्षमाशीला रही हो। मैं तो भला-बुरा जैसा भी हूँ, तेरा पति हूँ। दुःख के कारण मेरा हृदय पहले ही भग्न हो गया है। तू भी मुझ से कम दुःखिनी नहीं है। फिर भी अपने कठोर वाग्बाणों से मुझे विद्ध न कर।"

राजा के विनय और करुणा भरे वचनों को सुनकर कौशल्या अपने आँसुओं को न रोक सकी। उसके नेत्रों से आँसुओं की झड़ी लग गयी और उन आँसुओं में उसका क्रोध न जाने कब का बह गया। राजा से कठोर वचन कहने के कारण उसके मन में अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ। राजा के दोनों

को अपने हाथों में लेकर उसने अत्यन्त आदर से अपने से लगाया और अत्यन्त ग्लानि से बोली :

"नाथ, मेरे अपराध को क्षमा कीजिए। मैं आपके चरणों टकर कातर भाव से प्रार्थना करती हूँ कि मुझे क्षमा कर ए। क्षमा तो मुझे माँगनी चाहिए न कि आपको। आपके प्रकार क्षमा माँगने से तो मैं और भी पाप की भागिनी जाऊँगी। वस्तुतः मैं क्षमा की पात्री हूँ। मेरे इस महान् को यदि आप क्षमा न करेंगे तो मेरा उद्धार होना कठिन जो मूर्खा स्त्री अपने पति को क्षमा माँगने पर विवश ी है उसे विद्वान पुरुष कभी अच्छी नहीं बताते। नाथ, र्म को जानती हूँ, और यह भी भली भाँति जानती हूँ कि स्वयं धर्मज्ञ हैं। इसलिए अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर सत्य की रक्षा करना आपका कर्तव्य है। पुत्र-शोक से ल, अतएव विवेकहीन होकर ही मैंने आपसे दुर्वचन कहे शोक धैर्य का नाश कर देता है। शोक ज्ञान का विनाश देता है। शोक से बढ़कर दूसरा कोई शत्रु नहीं। और जब े पुत्र राम के वनवास की बात मन में लाती हूँ तो शोक रण मेरा मन वर्षा की नदी के समान उमड़ पड़ता है।"

इस प्रकार राजा की धीरता, नम्रता और मधुरता ने ल्या की कटुता को जीत लिया। यदि वे भी कौशल्या के चनों का उत्तर कटु वचनों में ही देते तो इसमें सन्देह कि विरोध उत्तरोत्तर बढ़ता जाता और राम-दुःखी होने ी ये दोनों एक दूसरे से विमुख हो जाते। परन्तु दशरथ शल्या के दर्पभरे वाक्यों का विनय से, कटु वचनों का ता से, एवं क्रोध का शान्ति से सामना कर उनके हृदय में

भी नम्रता, मधुरता और शान्ति का बीज बो दिया।

ठीक इसी प्रकार श्री रामचन्द्र ने भी भरत के प्रति अपना विश्वास जताकर लक्ष्मण के क्रोधपूर्ण हृदय से भरत के प्रति द्वेष-भाव को निकाल बाहर कर उनके प्रति विश्वास का बीज बो दिया। श्री रामचन्द्र अपने पिता के वचनों की रक्षा के लिए अयोध्या का राज्य छोड़कर भाई लक्ष्मण और पत्नी सीता के साथ वन को चले गये। चित्रकूट में रहते हुए एक दिन सहसा उन्हें दूर से ही कुछ-कुछ सेना के आने जैसा कोलाहल सुनाई दिया। उनकी आज्ञा से लक्ष्मण उस कोलाहल का कारण जानने के लिए एक ऊँचे वृक्ष पर चढ़ गये। लक्ष्मण ने देखा कि भरत एक विशाल सेना को साथ में लिये हुए वन की ओर आ रहे हैं। वनवास के कष्टों से उनका मन यों ही उद्वेलित हो रहा था। ससैन्य भरत को देखकर उन्होंने समझा कि भरत राम को मारकर निष्कंटक राज्य करना चाहते हैं। इस प्रकार भरत के प्रति अविश्वास से भरकर वे तुरन्त राम के पास आये और अत्यन्त क्रोध में उनसे भरत के साथ युद्ध करने की आज्ञा माँगी। परन्तु रामचन्द्र के हृदय में भरत के प्रति सहज स्नेह-भाव था। अतः वे इस प्रकार अविश्वास न कर सके। उन्होंने अत्यन्त मधुर शब्दों में लक्ष्मण से कहा :

"भाई लक्ष्मण, भरत का इस प्रकार अविश्वास मत करो। यदि मैं भरत से कह दूँ कि सब राजपाट लक्ष्मण को दे दो तो भरत प्रसन्नतापूर्वक तुम पर अपना सर्वस्व निछावर कर देंगे।"

यह सुनकर लक्ष्मण का क्रोध शान्त हो गया और वे अपने इस अविचारपूर्ण व्यवहार पर लज्जित हो गये। भरत चित्रकूट आ पहुँचे और रामचन्द्र से अत्यन्त विनीत भाव से अयोध्या लौट

चलने का आग्रह किया। परन्तु रामचन्द्र को पिता की आज्ञा का उल्लंघन करना उचित नहीं जान पड़ा। भरत उनकी दोनों पादुकाएँ लेकर अयोध्या लौट आये और वहाँ उनको अयोध्या के राजसिंहासन पर स्थापित कर दिया। १४ वर्ष तक रामचन्द्र के प्रतिनिधि बनकर तपस्वी भरत ने राज्य का शासन किया और वनवास से लौटते ही राम को राज्य सौंप दिया।

वनवास के भीषण कष्ट से खिन्न और हताश होकर द्रौपदी और चारों भाइयों ने अन्याय को धैर्यपूर्वक सहन करने के लिए युधिष्ठिर को बहुत धिक्कारा और प्रतिज्ञा भंग कर तुरन्त कौरवों से युद्ध छेड़ने का आग्रह किया। अपने ही प्रियजनों से बार-बार इस प्रकार धिक्कार और फटकार पाने के कारण युधिष्ठिर के मन में दारुण कष्ट हुआ। पर उदार-मना युधिष्ठिर अपनी स्त्री और अपने भाइयों के असह्य वचनों को चुपचाप पी गये और अत्यन्त मधुरता से समझा-बुझाकर उन्हें सत्य और न्याय के पथ पर लाने में वे समर्थ हुए।

एक दिन भीमसेन अत्यन्त क्रुद्ध होकर अपने बड़े भाई युधिष्ठिर को उलाहना देते हुए बोले :

"जुए में अपना सारा राज्य और समस्त ऐश्वर्य, यहाँ तक कि अपना विवेक खोकर, अपने आज्ञाकारी भाइयों और प्रिय पत्नी तक को आपने दाँव पर लगा दिया। इस प्रकार अपने हृदय की दुर्बलता के कारण आपने न केवल अपने भाइयों और प्रियतमा पत्नी को कष्ट दिया बल्कि राज-समाज में उपहासास्पद भी बने। जुए के समय जुआरियों से की हुई आपकी इस प्रतिज्ञा का क्या मूल्य है। अतः इस प्रतिज्ञा को

तोड़कर हमें कौरवों से लड़कर अपना खोया हुआ राज्य और खोई हुई प्रतिष्ठा पुनः वापस ले लेनी चाहिए।"

परन्तु युधिष्ठिर इन सब बातो से विचलित नही हुए। कुछ क्षण मौन रहकर और अपने समस्त धैर्य को बटोरकर अत्यन्त मीठी वाणी मे उन्होंने उत्तर दिया :

"भैया भीम! तुम्हारा कहना सोलह आने सही है। तुम्हें अपने इन कठोर तानों से मुझे व्यथित करने का, अपने वाग्बाणों से मुझे विद्ध करने का पूरा अधिकार है। इसका उलाहना मैं तुम्हें नहीं दूँगा, क्योंकि तुम सब पर यह जो भीषण आपत्ति पडी है, उसका कारण मेरी ही मूर्खता है। मुझे तब दर्प, अभिमान और अहकार के वशीभूत न होकर अपने मन को सयत करना उचित था। इस कारण मैं तुम्हारे इन तीखे वचनो का उत्तर किस मुँह से दूँ। परन्तु भाई! मैं जो प्रतिज्ञा कर चुका हूँ उसे भला कैसे भंग कर सकता हूँ। मेरी समझ में मिथ्यावादी होकर राज्य पाने की अपेक्षा मर जाना कहीं श्रेयस्कर है। अपने कारण तुम लोगों को कष्ट में देखकर मेरी छाती फटती है। इतने पर भी मैं अपनी प्रतिज्ञा नही तोड़ सकता। इसलिए मुझे कठोर वचन कहना निष्फल है। कृषक भी बीज बोकर अन्न काटने के लिए कुछ समय प्रतीक्षा करता है। इसी प्रकार, हे भाई, तुम अनुकूल समय की प्रतीक्षा करो। भीम, मेरी यह बात ध्यान से सुन लो कि मेरी प्रतिज्ञा भंग नही हो सकती, क्योंकि धर्म-रक्षा जीवन से ही नही स्वर्ग-सुख से भी श्रेष्ठ है। राज्य, पुत्र, यश, धन-सम्पदा यह सब मिलकर भी सत्य के सोलहवें भाग के समान भी नहीं हो सकते।"

इस प्रकार युधिष्ठिर अत्यन्त धैर्य से अपने भाइयों के

ठोर वचन और उलाहनों को पी गये। उन्होंने सब दोष
पचाप अपने ऊपर ले लिये। अपने स्नेह और माधुर्य से
न्होंने अपने दर्पोद्धत भाइयों के रोष को जीत लिया।

जैसे मधुरता और सहानुभूति से प्रेम की उत्पत्ति होती है
सी ही अविचारपूर्ण उपहास से घृणा की उत्पत्ति होती है।
र घृणा से अनेक प्रकार के अनिष्ट उत्पन्न होते हैं। राजा
धिष्ठिर का यश दिग्-दिगन्त में फैल गया था। जहाँ-तहाँ
ग उनके राजसूय यज्ञ की गाथा गाया करते थे। अपने
रोधी युधिष्ठिर की यह ख्याति और प्रशंसा दुर्योधन न सह
का और उसके हृदय में ईर्ष्या का बीज अंकुरित हो गया।
म आदि चारों भाइयों ने दुर्योधन की भावना का उपहास
या। फलतः दुर्योधन की ईर्ष्या कटुतर होती गयी।

एक समय राजा युधिष्ठिर अपने भाइयों, सभासदों और
द राजाओं से घिरे सभा-भवन में सुवर्ण-सिंहासन पर बैठे
थे। युधिष्ठिर की इस सभा के निर्माण में मयदानव ने
नी समस्त कला और शिल्प-चातुरी लगा दी थी। इसी
त दुर्योधन अपने भाइयों सहित वहाँ आ पहुँचा। स्फटिक-
मित भूमि में जलाशय के भ्रम से दुर्योधन ने अपने वस्त्रों
भीगने से बचाने के लिए सावधानी के साथ उन्हें ऊपर
ट लिया। थोड़ी देर पश्चात् स्फटिक के समान स्वच्छ
में स्थल के भ्रम से दुर्योधन जलाशय में गिर पड़े और
के सारे वस्त्र भीग गये।

दुर्योधन का यह प्रमाद देखकर भीमसेन अत्यन्त अशिष्टता-
क खिलखिलाकर हँस पड़े। भीमसेन की देखा-देखी और
बहुत से लोग अपनी हँसी को नही रोक सके। युधिष्ठिर ने

भीम आदि को उनके इस असभ्य व्यवहार के लिए बहुत फटकारा। परन्तु दुर्योधन तो भीतर-ही-भीतर कुढ़ गया। बाहर से लज्जित किन्तु भीतर-भीतर क्रोध से जलकर वह तुरन्त हस्तिनापुर लौट आया और इस अपमान का प्रतिशोध लेने की उसने प्रतिज्ञा की। आगे चलकर इसी अपमान का बदला लेने के लिए द्यूत-क्रीड़ा का नाटक रचा गया, जिसके फलस्वरूप पाण्डवों को वनवास हुआ और यही अन्त में कुरुक्षेत्र के उस भीषण युद्ध का कारण हुआ जिसमें दोनों ओर के असख्य वीर कुटुम्बी मारे गये और दुर्योधन के प्राणों की पूर्णाहुति के साथ ही इस युद्ध-यज्ञ की समाप्ति हुई।

अहित के बदले अहित करने, अपकार का प्रतिशोध अपकार से ही लेने से उत्तरोत्तर अमगल की ही वृद्धि होती है। भृगुपुत्र जमदग्नि अपने संयम, तप और कठोर जीवन के लिए प्रसिद्ध हो गये हैं। उनके पुत्र परशुराम जन्म से ही ब्राह्मण होते हुए भी स्वभाव से क्षत्रिय थे। परशुराम के पितामह भृगु की भविष्यवाणी के अनुसार वे क्षत्रियोचित वीरता से विभूषित होकर प्रकट हुए थे। स्वयं जमदग्नि में भी उग्रता बीज रूप में वर्तमान थी। उनका उग्र तप भी उस उग्रता को दग्ध करने में समर्थ नहीं हो सका था। इस उग्रता के कारण ही आगे चलकर इस महान् वंश को बड़ी भयंकर आपत्ति का सामना करना पड़ा था। एक दिन सहसा जमदग्नि को अपनी पत्नी रेणुका के सतीत्व में सन्देह हो गया और क्रोध के आवेश में उन्होंने अपने पुत्रों को उसका वध करने की आज्ञा दी। परन्तु कनिष्ठ पुत्र परशुराम के सिवाय और किसी ने भी माता के पवित्र शरीर पर हाथ उठाना स्वीकार नहीं किया।

पिता के आज्ञाकारी परशुराम ने फरसे के प्रहार से माता का मस्तक धड़ से अलग कर दिया। इस पर प्रसन्न होकर जमदग्नि ने कहा :

"पुत्र, मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ। यथेच्छ वर माँग ले।"

परशुराम ने कहा :

"यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे यह वर दीजिए कि मेरी माता फिर से जीवित हो जाय, और मुझे मातृ-हत्या का पातक न लगे।"

जमदग्नि ने 'तथास्तु' कहकर रेणुका को पुनर्जीवित कर दिया। फिर भी मातृ-हत्या के पाप से मुक्त होने के लिए परशुराम तीर्थयात्रा करने को चल दिये। परन्तु जमदग्नि के क्रोध से उत्पन्न पाप इतने पर भी शान्त न हो सका।

एक दिन जमदग्नि के पुत्र आश्रम से बाहर गये हुए थे और उनकी पत्नी रेणुका आश्रम में अकेली रह गई थी। उसी समय कार्तवीर्य अर्जुन अतिथि बनकर आश्रम में आये और रेणुका ने विधिपूर्वक उनका आतिथ्य किया। क्षत्रियत्व के दर्प से उन्मत्त कार्तवीर्य को इस आतिथ्य से सन्तोष नहीं हुआ। अतः वह नित्य यज्ञ के लिए दूध और घी देने वाली गाय के बछड़े को बलात् अपहरण कर उठा ले गया। परशुराम के आने पर जमदग्नि ने उनको इस अपमान की कहानी सुनाई। अपने बछड़े से विरहित गाय के कातर रुदन को सुनकर परशुराम का क्रोध और भी उद्दीप्त हो गया। क्रोधावेश में आत्मसंयम खोकर वे तत्काल अपना परशु लेकर अर्जुन के पास गये और भीषण युद्ध में उसकी सहस्र भुजाओं को काटकर उसको मार डाला। परशुराम के इस क्रोध ने कार्तवीर्य के भाई-बन्धुओं

को और भी क्रुद्ध कर दिया और नृशंसता का उत्तर नृशंसता से देने के लिए वे जमदग्नि के आश्रम में घुस गये। जमदग्नि अपनी साधना में निमग्न थे। क्रोधावेश में कार्तवीर्य के बन्धुओं ने इस बात का भी ध्यान नहीं रखा कि जमदग्नि निहत्थे हैं और समाधि में हैं और अत्यन्त क्रूरता से उनका वध कर डाला। क्रोध और हिंसा की यह परम्परा यहीं समाप्त नहीं हो गयी। हिंसा की इस शृंखला को तोड़ने की क्षमता केवल क्षमा में ही हो सकती थी। पर परशुराम के उग्र हृदय में क्षमा का सर्वथा अभाव था। आश्रम में आने पर परशुराम ने अत्यन्त दुःख के साथ पिता की मृत्यु का समाचार सुना। विधिपूर्वक उनका मृतक संस्कार करने के उपरान्त उनकी चिता के समीप ही उन्होंने पृथ्वी को क्षत्रिय-विहीन करने की प्रतिज्ञा की। इस प्रकार 'हिंसा के बदले हिंसा' के नियम से उत्तरोत्तर हिंसा की परम्परा बढ़ती गयी। अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए परशुराम ने पहले कार्तवीर्य के भाई-बन्धुओं की हत्या की और फिर क्षत्रियों के संहार करने में जुटकर पृथ्वी को लगभग क्षत्रिय-विहीन कर दिया

अपने साथ अनीति और निष्ठुरता का व्यवहार करने वालों के प्रति भी मधुरता और उदारता का व्यवहार कर हम उनका हृदय जीत सकते हैं। एक समय दुर्वासा ऋषि दुर्योधन के भवन में गये। उन जैसे अतिथि को प्रसन्न करना हँसी-खेल नहीं था। दुर्योधन अपने भाइयों सहित सतर्क होकर रात-दिन उनकी सेवा में उपस्थित रहकर बड़े सम्मान से उनके आदेशों का पालन करता रहता था। पर इतने से भला दुर्वासा क्यों प्रसन्न होने लगे। कभी दुर्वासा कहते :

"मुझे बड़ी भूख लगी है। शीघ्र भोजन ला।"

ऐसा कहकर वे तुरन्त स्नान करने को चल देते। दुर्योधन भोजन तैयार करवाकर उनकी प्रतीक्षा करते। बहुत विलम्ब से वे लौटकर आते और कहने लगते :

"मुझ को भूख नहीं है, इस समय भोजन नहीं करूँगा।"

फिर थोड़ी देर पश्चात् सहसा आकर कहने लगते :

"शीघ्र भोजन उपस्थित कर।"

किसी दिन आधी रात को भोजन करने की इच्छा प्रकट करते; परन्तु भोजन की सामग्री उपस्थित होने पर एक कण भी नहीं छूते। इस प्रकार कई मास तक दुर्योधन की परीक्षा लेने पर, उसे कसौटी में कसने पर, भी जब उन्होंने देखा कि दुर्योधन ने न कभी झल्लाहट या खीझ ही प्रकट की, न वे धैर्य से ही विचलित हुए, तब उन पर अत्यन्त उदार हो गये और प्रसन्नतापूर्वक बोले :

"दुर्योधन, मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ। जो अभिलाषा हो, वर माँग ले। यदि वह पदार्थ धर्म और नीति के विरुद्ध न हुआ तो जो कुछ भी तू माँगेगा मैं वही तुझे देने में समर्थ हूँ।"

कभी-कभी मनुष्य इतना पाषाण-हृदय हो जाता है कि उसके हृदय में किसी प्रकार की भी दया का लेशमात्र भी उदय नहीं होता। ऐसी दशा में उसका अधःपतन अनिवार्य हो जाता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए दुर्योधन का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है।

पाण्डवों का राज्य और सर्वस्व छीनकर और उन्हें वनवास देकर भी दुर्योधन को सन्तोष न हुआ। उसने निश्चय किया कि पाण्डवों को वन में कठोरता और दरिद्रता का दुःख भोगते

देखकर अपनी आँखें सेक लूँ। उसके मामा धूर्त शकुनि ने भी सलाह दी कि अपनी समृद्धि दिखाकर विरोधियों को दुःखी कर और उनको कष्ट में देखकर तुम्हें बड़ा मजा आयगा। इस विचार से अपने भाइयों, मित्रों और अन्तःपुर की महिलाओं को साथ लेकर वह द्वैतवन में जा पहुँचा, जहाँ पाण्डव वनवास के कष्टमय दिन बिता रहे थे। पर उसका यह षड्यन्त्र सफल नहीं हुआ। अपने अहंकार से उन्मत्त होकर दुर्योधन ने गन्धर्व-राज चित्ररथ का अपमान किया। गन्धर्वराज ने उस पर आक्रमण कर उसे सपरिवार बन्दी बना लिया। कुछ भागे हुए सैनिकों में से दो-एक ने दुर्योधन की इस विपत्ति का समाचार राजा युधिष्ठिर को सुनाया और उनसे सहायता की प्रार्थना की। उन्होंने सुनते ही अपने भाइयों को आज्ञा दी :

"भाइयो, दुर्योधन के अपने भाइयों और अन्तःपुर की महिलाओं सहित बन्दी किये जाने से हमारे वंश की प्रतिष्ठा पर धक्का लगा है। अतः तुरन्त जाकर उनको बन्धन-मुक्त कर अपनी कुल-मर्यादा की रक्षा करो।"

भीम ने युधिष्ठिर की इस आज्ञा का विरोध करना चाहा। युधिष्ठिर ने शान्त-भाव से भीम को समझाते हुए कहा :

"भाई, यदि कोई हाथ जोड़कर प्रार्थना करे कि 'मैं शरणागत हूँ, मेरी रक्षा करो', तब कौन ऐसा सदाशय पुरुष होगा जो शरणागत शत्रु की भी रक्षा करने को सन्नद्ध न हो जायगा। वरदान की प्राप्ति, साम्राज्य-लाभ और पुत्र-जन्म— ये पृथक्-पृथक् महान् आनन्द के साधन हैं। किन्तु विपत्ति में पड़े शत्रु की रक्षा करने में जो आनन्द होता है वह इन तीनों प्रकार के सम्मिलित आनन्द के समान है।"

महामना राजा युधिष्ठिर के ये वचन सुनकर, बड़े भाई की आज्ञा शिरोधार्य कर सभी भाई दुर्योधन को छुड़ाने चले। गन्धर्वराज से थोड़ी ही देर युद्ध हुआ। वह अर्जुन के मित्र थे। ज्योंही उन्हें यह समाचार मिला कि पाण्डव कौरवों की रक्षा करने के लिए आ पहुँचे हैं और वे ही युद्ध कर रहे हैं, त्योंही उन्होंने युद्ध बन्द कर दिया। अर्जुन ने दुर्योधन के ऊपर आक्रमण करने का कारण पूछा तो गन्धर्वराज ने कहा :

"अपना वैभव दिखाकर आप लोगों के मन को दुखित करने और आपके वनवास के कष्टों को देखकर स्वयं तृप्त होने के दुरुद्देश्य से दुर्योधन बन्धु-बान्धवों के साथ वन में आया था। मैंने उसके मन की इस दुर्भावना को जान लिया था। इसी कारण मेरी इच्छा थी कि उसे बन्दी कर इन्द्र के पास ले जाऊँ और यथोचित दण्ड दिलाऊँ।"

अर्जुन ने अपने मित्र से बंदियों को मुक्त कर देने की प्रार्थना की। गन्धर्वराज ने कहा कि यह सारी कथा सुनकर भी यदि युधिष्ठिर दुर्योधन को छोड़ देने को कहेंगे तो मैं उसके साथियों सहित उसे मुक्त कर दूँगा। युधिष्ठिर ने शान्ति से यह सब सुना। इस क्षुद्र और नृशंस उद्देश्य को जानकर भी युधिष्ठिर ने दुर्योधन और उसके साथियों को मुक्त कर दिया। गन्धर्वों के चले जाने पर युधिष्ठिर सहज स्नेह-भरी वाणी में दुर्योधन से बोले :

"भाई, आगा-पीछा सोचे बिना मनचाही कर बैठने का स्वभाव छोड़ दो। सहसा आवेश में आकर किये गये काम से पछताना पड़ता है और ऐसे कार्यों से सुख नहीं मिल सकता। ईश्वर तुम्हारा मंगल करे। अब तुम कलह छोड़कर हस्तिनापुर

जाओ और सुख से प्रजा का पालन करो।"

धर्मराज युधिष्ठिर ने तो उस शत्रु के साथ भी ऐसा दयापूर्ण व्यवहार किया जो उनके पार्थिव कष्टों का मूल कारण था। परन्तु दुर्योधन को युधिष्ठिर का यह व्यवहार भी एक नया अपराध जान पड़ा। उसका हृदय क्रोध से धधक उठा। वह चिढ़कर हस्तिनापुर लौट आया और अपकार का बदला उपकार और दयालुता से देने वाले युधिष्ठिर के प्रति उसकी घृणा की कटुता और भी बढ़ गयी।

सौभाग्य से संसार में ऐसे हठधर्मियों की संख्या अधिक नहीं होती। और जैसे सूर्य माखन को पिघला देता है वैसे ही दयापूर्ण व्यवहार क्रोध को द्रवीभूत कर ही देता है।

यदि कभी हमारे प्रति किये गये क्रोध के कारण हमारे मन में क्रोध-भाव जाग्रत हो ही जावे, तो भी हमें उस पर नियंत्रण करना चाहिए—वाणी से, मुद्रा से अथवा इंगित से। किसी प्रकार भी उसे अभिव्यक्त न होने देना चाहिए। आग की लपटों में यदि ईंधन डालना बन्द कर दें तो आग बुझ जाती है। इसी प्रकार बार-बार क्रोध पर नियन्त्रण करने के प्रयत्न में हम क्रोध को भड़कने नहीं देते और समय पाकर यह क्रोधाग्नि स्वयं शान्त हो जाती है। इस प्रकार अभ्यास करते-करते हमें यह अनुभव होने लगेगा कि दूसरों का क्रोध अब हमारे मन में क्रोध को जगाने में असमर्थ है और तब हम दूसरों की कठोरता का उत्तर अपनी दयालुता से दे सकेंगे।

उपर्युक्त दृष्टान्तों से यह बात सहज ही समझ में आ सकती है कि हमें कुसंगति से क्यों बचना चाहिए। यदि हम ऐसे लोगों की संगति में रहें जो शरीर से मलिन रहते हैं,

जिनके विचार अपवित्र हैं, जिनकी भावना निष्ठुर है, और जो अनुचित कार्य करते हैं, उनका प्रभाव हमारे ऊपर पड़े बिना न रहेगा और हम भी उन्हीं की भांति सोचने, विचारने और काम करने लगेंगे। हम में से प्रत्येक में भलाई और बुराई बीज रूप में निहित रहती है। कुसंगति हम में बीज रूप में छिपी हुई बुराइयों को प्रोत्साहन देकर उन्हें अंकुरित कर देती है और क्रमशः वह बुराई इतनी जड़ पकड़ लेती है कि उसे हटाना एक समस्या बन जाती है। इसलिए जो छात्र विद्यालयों में पवित्र और उद्योगशील जीवन बिताते हुए अपनी मानवता का पूर्ण विकास कर अपने को भावी संघर्ष के लिए तैयार करना चाहता है उसे यथासम्भव कुसंगति से दूर ही रहना चाहिए। यदि कभी संयोगवश उसे कुसंगति में जाने को विवश होना पड़े तो इनसे सदा सजग रहना चाहिए। यदि उसका मन पवित्र और उच्च विचारों से परिपूर्ण रहेगा तो कुसंगति उसे प्रभावित न कर सकेगी। उलटे उसका प्रभाव उनके विचारों को पवित्र में समर्थ हो सकता है।

इस प्रकार ज्ञान की बातों को अपने जीवन में व्यवहार में लाकर हम ज्ञान का सदुपयोग कर सकते हैं, उसे सफल बना सकते हैं। अन्त में स्वयं अपने सरल और पवित्र जीवन से हम विश्व को सुख-शान्तिमय बनाने में सहायक हो सकते हैं।